चतुर्थ अंक

वर्ष 2 संख्या 2

जुलाई-दिसम्बर, 2020

कृषि-जीवन

बुन्देलखण्ड कृषि इन्द्रधनुषी क्रांति की ओर अग्रसर............

वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए टिकाऊ कृषि तकनीकियाँ

रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय
झाँसी-284 003 (उ.प्र.) भारत

कृषि जीवन

वर्ष 2 संख्या 2 जुलाई–दिसम्बर, 2020

संरक्षक
डॉ. अरविन्द कुमार
कुलपति

मुख्य संपादक
डॉ. अनिल कुमार
(निदेशक, शिक्षा)

संपादक
डॉ. विष्णु कुमार
(सह–प्राध्यापक)

संपादक सलाहकार
डॉ. एस.के. चतुर्वेदी
(अधिष्ठाता, कृषि संकाय)
डॉ. ए.के. पाण्डेय
(अधिष्ठाता, उद्यानिकी एवं वानिकी)
डॉ. ए.आर. शर्मा
(निदेशक, शोध)
डॉ. मुकेश श्रीवास्तव
(कुलसचिव)
डॉ. एस.एस. सिंह
(निदेशक, प्रसार शिक्षा)
डॉ. कुसुमाकर शर्मा
(सलाहकार)

संपादक मंण्डल
डॉ. अमित तोमर
डॉ. गौरव शर्मा
डॉ. शुभा त्रिवेदी
डॉ. राकेश चौधरी
(रा.ल.बा.के.कृ.वि.वि., झाँसी)
डॉ. आर.एस. सेंगर
(स.ब.प.कृ.वि.वि., मेरठ)
डॉ. दिनेश जोशी
(वि.प.कृ.अनु.सं., अल्मोड़ा)
डॉ. मनीत राणा
(भा.च. एवं चा.अनु.सं., झाँसी)

पत्रिका में प्रकाशित लेख एवं विचार लेखकों के अपने निजी है। संपादक, प्रकाशक की सहमति और उत्तरदायी होना अनिवार्य नहीं है। लेख में लेखक का पूरा पता प्रकाशित किया जाता है। अतः कोई भी जानकारी लेखक से ली जा सकती है।

निदेशक शिक्षा
ई–मेल : directoreducation.rlbcau@gmail.com

सूची

कुलपति जी की कलम से

संपादकीय : "वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए टिकाऊ कृषि तकनीकियाँ"

इस अंक में :

1. बुन्देलखण्ड एवं कृषिः स्थिति, समस्याएँ एवं संभावनाएं
2. वर्षा आधारित क्षेत्रों में जल बचत तकनीकें और किसानों की आय को बढ़ाने हेतु सुझाव
3. वर्षा आधारित क्षेत्रों में किसानों की आय को दोगुना करने में आने वाले अवरोध एवं उनका समाधान
4. संरक्षण खेती : वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए वरदान
5. लवण प्रभावित मृदाओं के सुधार हेतु पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु : एक विकल्प
6. आलू उत्पादन की उन्नत तकनीक
7. पोषण सुरक्षा और जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए बाजरा की खेती एवं उसकी उपयोगिता
8. बुन्देलखण्ड क्षेत्र में तिल की खेती किसानों के लिए वरदान
9. वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिये उपोष्ण बागवानी की नवीनतम प्रौद्योगिकियाँ
10. बुन्देलखण्ड क्षेत्र में फल उत्पादित फसलों में लगने वाले प्रमुख कीट एवं उनकी रोकथाम
11. वर्षा आधारित क्षेत्रों में परवल की वैज्ञानिक खेती
12. असिंचित बुन्देलखण्ड क्षेत्र एवं कोरोना महामारी से बचाव के लिए अश्वगंधा की खेती
13. बुन्देलखण्ड के शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में ड्रैगन फ्रूट आधारित कृषि वानिकी प्रणाली की संभावना
14. लाभदायक सूक्ष्मजीवों का गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के परिदृश्य में योगदान
15. बुन्देलखण्ड के वर्षा सिंचित क्षेत्रों में चारा प्रबंधन हेतु फोडर बीट (चारा चुकंदर) की खेती की अवधारणा
16. क्षीण वर्षा क्षेत्रों के लिए उपयोगी कृषिवानिकी

प्रकाशक : शिक्षा निदेशालय,
रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी - 284003 (उ.प्र.) भारत

कॉपीराइट : रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी

कुलपति जी की कलम से..............................

हमारे देश की आर्थिक उन्नति में कृषि का बहुमूल्य योगदान है। देश में अधिकांश कृषि योग्य भूमि वर्षा पर निर्भर करती है। वर्षा पर निर्भर खेती में हमेशा अनिश्चित्ता बनी रहती है क्योंकि वर्षा की तीव्रता तथा मात्रा पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता है। इस धरातल पर भूमि एवं जल प्रकृति द्वारा मनुष्य को दी गई दो अनमोल निधि हैं। देश का किसान इन दोनों सम्पदाओं का कृषि उपयोग प्राचीन काल से करता आया है। वर्षा जल का संचयन वर्षा आधारित कृषि में सिंचाई हेतु उपयोग प्राचीनकाल से होता आया है। वर्षा जल का संचयन वर्षा आधारित कृषि में सिंचाई हेतु बहुत लाभकारी होता है हालांकि, सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों द्वारा वर्षा आधारित कृषकों की समस्याओं के निदान हेतु कई कारगर प्रयास किए जा रहे हैं, फिर भी इन क्षेत्रों के किसानों हेतु जल बचत योजनाओं को और अधिक कारगर बनाकर जनभागीदारी सुनिश्चित करने की नितांत आवश्यकता है। भाकृअनुप–केन्द्रीय बारानी कृषि अनुसंधान संस्थान हैदराबाद, तेलांगाना, के अनुसार क्षेत्र जहाँ 30 प्रतिशत से कम सिंचित क्षेत्रफल है, वर्षा आधारित क्षेत्रों में आँके जाते हैं। इन क्षेत्रों में कृषि उत्पादन पूर्ण रूप से मानसूनी एवं गैर मानसूनी वर्षा पर निर्भर रहता है। अक्सर ये क्षेत्र सूखे से ग्रसित होते हैं तथा प्रत्येक तीन वर्षों में अक्सर एक बार सूखा पड़ता है। वर्षा आधारित कृषि क्षेत्र देश के कुल क्षेत्रफल के लगभग 60 से 65 प्रतिशत भूभाग में फैला हुआ है। यह क्षेत्र महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, तेलगांना, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु आदि राज्यों के साथ देश में लगभग पंद्रह राज्यों में फैले हुए हैं।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र सूखाग्रस्त एवं वर्षा आधारित क्षेत्रों के अंतर्गत आता है। इस क्षेत्र में औसत सामान वार्षिक वर्षा लगभग 875 मिलीमीटर के आस पास है। वर्षा ऋतु में 50 से 55 दिन में ही पूरी वर्षा हो जाती है तथा इसका वितरण भी अत्यंत ही असमान होता है। विगत वर्षों के वर्षा के स्वरूप के आधार पर यह देखा गया है कि माह अगस्त के किसी एक सप्ताह के 01 अथवा 02 दिनों में ही कुल वर्षा का लगभग 40 प्रतिशत वर्षा हो जाती है। वर्षा जल का प्रवाह अत्यधिक होने से अधिकांश जल बहकर नदी एवं नालों में चला जाता है तथा जल के साथ–साथ मृदा भी कट कर चली जाती है। जिससे उपजाऊ भूमि का क्षरण अधिक होता है। इस वर्षा जल का अधिक से अधिक मात्रा में खेत तालाब के माध्यम से संचयन करके संचित जल से अधिकाधिक क्षेत्र की सिंचाई करते हुए अधिक उत्पादन भी प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही मनुष्यों तथा जानवरों के लिए पेयजल की सुविधा प्राप्त हो सकती है।

गौरवशाली ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए विख्यात बुन्देलखण्ड प्राकृतिक संसाधनों से भी प्रचुर रहा है परंतु मानवीय हस्तक्षेपों के कारण सामान्य समस्याएं दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। बुन्देलखण्ड उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों से मिलकर बना है, जिसमें उत्तर प्रदेश के सात जनपद संदर्भित हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र हमेशा से जल की कमी, जंगल, विविध जानवर, खनिज एवं कुछ अन्य प्राकृतिक संसाधनों के स्थल के रूप में विख्यात रहा है।

जल बचत तकनीकें अपनाकर उन्हें उपाय के रूप में प्रभावी ढंग से लागू करके जल–संसाधनों के प्रबंधन हेतु सरकारी प्रयासों को अपनाकर, जल संचयन और प्रबंधन प्रणालियों का अनुगामी पालन करते हुए तथा वैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न स्तरों पर दिए गए सुझावों को अपनाने से वर्षा आधारित क्षेत्रों में किसानों की आय में बढ़त हासिल की जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्षा आधारित क्षेत्रों के किसानों को जल बचत की उचित तकनीकों से निरंतर अवगत कराते रहना होगा परंतु जन–सहभागिता की भी नितांत आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। तकनीकी के सभी घटकों (बीज, रासायनिक खाद, बुवाई यंत्र, पशुधन की नस्लें, खेत तालाब इत्यादि) का ज्ञान एक साथ किसानों तक पहुँचाना होगा।

वर्षा आधारित कृषकों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसी विधियों का उपयोग करना आवश्यक होगा जो कम खर्चीली तथा आर्थिक रूप से जल बचत की विभिन्न विधियों का सुनियोजित उपयोग सुनिश्चित कर सकें। कृषि वैज्ञानिकों द्वारा विकसित की गई उन्नत तकनीकों को उचित समय पर किसानों तक पहुँचाकर एवं हेतु जल बचत योजनाओं को और अधिक कारगर बनाकर जन–भागीदारी सुनिश्चित करने की नितांत आवश्यकता है।

(अरविन्द कुमार)
कुलपति

सम्पादकीय

"वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए टिकाऊ कृषि तकनीकियाँ"

इतिहास के पन्नों में जाएं तो पता चलता है कि बुन्देलखण्ड में 19वीं व 20वीं सदी के दौरान कुल 12 सूखा वर्ष देखने को मिले हैं अर्थात हम कह सकते हैं कि 16–17 वर्ष में एक बार सूखा पड़ा है। सूखा वर्ष की आवृत्ति पहली बार वर्ष 1968 से 1992 के बीच बढ़ी जब इन वर्षों में तीन बार सूखा पड़ा और वर्तमान में देखें तो विगत 6 वर्षों में (2004–2005 के बाद) लगभग लगातार सूखे की स्थिति बनी हुई है। जलवायु परिवर्तन में विगत 15 वर्षों में जो मौसम में असामान्य बदलाव किए हैं उसने इस क्षेत्र के लोगों की नाजुकता और जोखिम को काफी बढ़ाया है। यहाँ विगत वर्षों में मानसून का देर से आना और जल्दी वापस हो जाना, दोनों के बीच लंबा सूखा अंतराल, जल संग्रह क्षेत्रों में पानी का ना हो पाना, कुँओं का सूख जाना इत्यादि ने यहाँ की कृषि को बुरी तरह से प्रभावित कर दिया है।

वर्षा आधारित क्षेत्रों हेतु जल की पर्याप्तता एवं शुद्धता बनाए रखने हेतु इसका उचित प्रबंधन आवश्यक है। हमारे पास जहाँ एक ओर सतही जल के रूप में तालाब, नदी नाले एवं जलाशय उपलब्ध हैं तो दूसरी ओर भूमिगत जल के रूप में कुओं और नलकूपों के माध्यम से इसका दोहन किया जाता है। वर्तमान में उपलब्ध जल का उचित उपयोग नदियों के प्रभाव मार्ग में जल रोककर वर्षा जल को ढालों की तीव्रता के अनुसार बाँध बनाकर एवं जलाशयों का निर्माण किया जा रहा है। वर्षा जल को भूमि की सतह पर बहता वर्षा जल (अपवाह) मकानों की छत से गिरता वर्षा जल तथा प्राकृतिक स्रोतों से बहता पानी के रूप में देखा जा सकता है।

यदि कुँआ ना हो तो पिच गड्ढा खोदा जाता है या पुनर्भरण खाई खोद दी जाती है। इस तकनीक द्वारा वर्षा का जल भूमि के अंदर पहुंचा दिया जाता है, इससे भूमिगत जल स्तर को बढ़ाया जा सकता है। वर्षा पर आधारित खेती को अधिक सफल बनाने के लिए वर्षा की एक–एक बूँद का उपयोग अत्यावश्यक है चाहे वह नमी के रूप में भूमि में निहित रहे या वर्षा जल को किसी उचित स्थान पर संचित करके किया जाए। इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण तकनीकियाँ जैसे ड्रिप या टपक प्रणाली वर्षा आधारित कृषकों हेतु सिंचाई की एक उन्नत विधि है, जिसके प्रयोग से सिंचाई जबकि पर्याप्त बचत की जा सकती है। यह प्रणाली फसल को मुख्यतः पंक्ति, उपपंक्ति तथा पास पंक्ति के तंत्र के उनकी लंबाईयों के अंतराल के साथ उत्सर्जन बिंदु का उपयोग करके पानी वितरित करती है प्रत्येक ड्रिपर उत्सर्जक, मुहाना संयंत्र, पानी व पोषक तत्व तथा अन्य वृद्धि के लिए आवश्यक पदार्थों की विधिपूर्वक नियंत्रित कर एक समान निर्धारित मात्रा, सीधे पौधों की जड़ों में आपूर्ति करता है, जिससे सिंचाई दक्षता लगभग 80–90 प्रतिशत होती है। पानी की बचत और उत्पादन की अधिक पैदावार के लिहाज से बौछारी सिंचाई प्रणाली अति उपयोगी है और वैज्ञानिक तरीका मानी गई है। बौछारी या स्प्रिंकलर विधि से सिंचाई में पानी को छिड़काव के रूप में दिया जाता है। टपक सिंचाई, बूँद–बूँद सिंचाई या ड्रिप इरिगेशन से पानी और खाद की बचत होती है।

यह सर्वविदित है कि कृषि की समृद्धि, मृदा की गुणवत्ता एवं जल की उपलब्धता इन दोनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर निर्भर करती है। इसके अलावा एकीकृत फार्म प्रबंधन के सभी महत्वपूर्ण घटकों (फसल, पशु, चारा, मछली, बागवानी, कृषि वानिकी, रोग एवं कीट, कृषि यंत्रीकरण,विपणन तंत्र प्रबंधन इत्यादि) के समन्वित प्रबंधन के लिए जल अति आवश्यक है। वर्षा आधारित कृषकों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसी विधियों का उपयोग करना आवश्यक होगा जो कम खर्चीली तथा आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो। वर्षा ऋतु के आगमन से पूर्व ही कुछ व्यवस्था को करनी पड़ेगी जिससे वर्षा से होने वाले भूक्षरण को कम करके वर्षा जल का अधिकतम उपयोग खेती में किया जा सके। वर्षा पर आधारित खेती के लिए तकनीकी रूप से जल बचत की विभिन्न विधियों का सुनियोजित उपयोग करना अत्यावश्यक होगा।

अनुसंधान नीतियों एवं कार्यक्रमों का प्रदर्शन प्रत्येक किसान के खेत पर केंद्रित करने की आवश्यकता है क्योंकि इन क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की विविधता विद्यमान है। विकसित की गई कृषि तकनीकों को समय के साथ पुनः परिष्कृत एवं संशोधित करके विभिन्न पैकेजों के रूप में किसानों तक पहुँचाना जाना चाहिए। प्राकृतिक संसाधनों में मृदा एवं जल के समुचित प्रबंधन को सर्वोपरि प्राथमिकता देते हुए, इस दिशा में और कार्य करने की आवश्यकता है।

जल ग्रहण या वाटरशैड बनाना भी वर्षा आधारित क्षेत्रों के लिए अत्यन्त लाभकर हो सकता है। यह भूमि पर एक जल विकास क्षेत्र है, जो वर्षा के बाद बहने वाले जल को किसी नदी, झील, बड़ी धारा अथवा समुद्र में मिलाता है। इस उपाय के अंतर्गत कृषि भूमि के लिए ही नहीं, अपितू भूमि जल संरक्षण, उपजाऊ एवं बेकार भूमि का विकास, वनरोपण और वर्षाकाल के जल का संचयन कार्य किया जा सकता है। पठारी क्षेत्रों में वर्षा जल संचयन हेतु पॉलीथीन मुक्त टैंकों का निर्माण किया जा सकता है।

छोटी खेत जोत आकार, कई खेत जोतों पर प्राकृतिक ढलान ना होना एवं लागत की समस्या, किसान द्वारा ज्ञान के अभाव में लंबी अवधि की फसलें लगाने से अधिक जल की आवश्यकता पड़ना आदि बाधाओं से देश के किसानों को गुजरना पड़ता हैं जबकि बड़ी खेती जोतों के लिए खेत–तालाब तकनीकी एवं सामूहिक भूमि पर सामुदायिक तालाब तकनीक, क्षेत्र विशेष के अनुसार कम अवधि तथा अधिक लाभदायक फसलों (सब्जियाँ, औषधियाँ घास इत्यादि) की प्रजातियां लगाने में जल का समुचित प्रबंधन अत्यन्त जरूरी है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में विद्यमान रानी लक्ष्मीबाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी में समय–समय पर इन सभी बातों की किसानों को जानकारी कृषि वैज्ञानिकों के माध्यम से दी जाती है। विभिन्न संस्थानों द्वारा किए गए अनुसंधान दर्शाते हैं कि संग्रहित जल से विभिन्न प्रकार की सब्जियां उगाई जा सकती हैं तथा फसल मध्य सूखे के दौरान जीवन रक्षा सिंचाई करके फसलों को बचाया जा सकता है। इससे उपज एवं आय में बढ़ोतरी होती है। कम अवधि एवं अधिक सूखा सहन करने वाली फसलों से किसान की आय में वृद्धि की जा सकती है। अतः यह तकनीकी वर्षा आधारित कृषकों हेतु प्रभावकारी सिद्ध हुई है।

भूमिगत बाँधों के निर्माण से गैर मानसून महीनों में भूमिगत या नाली के जल को नदी के चैनलों में जाने से रोका जाए ताकि नदी का जल प्रदूषित होने से बच सके। दूर–दूर तक फैले क्षेत्रों में विशेष प्रकार के तालाब बनाए जा सकते हैं। यदि क्षेत्र के कुएं का जलस्तर घट रहा है तो पंप की सहायता से नदी का पानी कुओं में भर दिया जाए। देश के कृषकों को यह बात समझाई जाए कि जो वर्षा का जल खेतों में भर जाता है, उन्हें खेतों से बाहर बहकर जाने से रोकने का उपाय वे स्वयं करें।

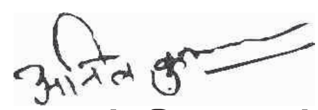

(अनिल कुमार)

मुख्य सम्पादक एवं निदेशक शिक्षा

विषय सूची

क्रं.स.	शीर्षक	पृष्ठ सं.
1.	बुन्देलखण्ड एवं कृषिः स्थिति, समस्याएँ एवं संभावनाएं *दिनेश कुमार, राम स्वरुप यादव, मुकेश कुमार मीणा, देवीदीन यादव, पवन कुमार, आलोक शिव एवं राकेश चौधरी*	1
2.	वर्षा आधारित क्षेत्रों में जल बचत तकनीकें और किसानों की आय को बढ़ाने हेतु सुझाव *कविता भादू*	6
3.	वर्षा आधारित क्षेत्रों में किसानों की आय को दोगुना करने में आने वाले अवरोध एवं उनका समाधान *विनोद कुमार सचान*	8
4.	संरक्षण खेती : वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए वरदान *प्रदीप कुमार, हरपाल सिंह एवं अमित तोमर*	11
5.	लवण प्रभावित मृदाओं के सुधार हेतु पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु : एक विकल्प *प्रियंका चंद्रा, कैलाश प्रजापत, अवतार सिंह, पूजा वर्मा एवं आर.के. यादव*	19
6.	आलू उत्पादन की उन्नत तकनीक *शिव प्रताप सिंह, सुभाष कटारे एवं मुरलीधर जे. सदावर्ती*	22
7.	पोषण सुरक्षा और जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए बाजरा की खेती एवं उसकी उपयोगिता *कपिल कुमार तिवारी, अनुज कुमार सिंह, आशुतोष सिंह एवं अंशुमान सिंह*	27
8.	बुन्देलखण्ड क्षेत्र में तिल की खेती किसानों के लिए वरदान *राकेश चौधरी, विष्णु कुमार, अंशुमान सिंह एवं सुशील कुमार चतुर्वेदी*	30
9.	वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिये उपोष्ण बागवानी की नवीनतम प्रौद्योगिकियाँ *सुशील कुमार शुक्ल, घनश्याम पांडेय एवं अजय कुमार त्रिवेदी*	34
10.	बुन्देलखण्ड क्षेत्र में फल उत्पादित फसलों में लगने वाले प्रमुख कीट एवं उनकी रोकथाम *सुन्दर पाल*	38
11.	वर्षा आधारित क्षेत्रों में परवल की वैज्ञानिक खेती *हरपाल सिंह, अमित तोमर एवं गौरव कुमार अहिरवार*	41
12.	असिंचित बुन्देलखण्ड क्षेत्र एवं कोरोना महामारी से बचाव के लिए अश्वगंधा की खेती *अभिषेक कुमार, एम.जे. डोबरियाल, मनीत राणा, ए.के. पांडे एवं अनिल कुमार*	43
13.	बुन्देलखण्ड के शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में ड्रैगन फ्रूट आधारित कृषिवानिकी प्रणाली की संभावना *गरिमा गुप्ता एवं दीपक मौर्य*	46
14.	लाभदायक सूक्ष्मजीवों का गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के परिदृश्य में योगदान *रविन्द्र कुमार, सुधीर कुमार, भूमेश कुमार, प्रेम लाल कश्यप, रवि शेखर, अंजु शर्मा एवं ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह*	48
15.	बुन्देलखण्ड के वर्षा सिंचित क्षेत्रों में चारा प्रबंधन हेतु फोडर बीट (चारा चुकंदर) की खेती की अवधारणा *दीपक मौर्य, के.डी. साह, एस.के. रेजा एवं ए.के. साहू*	54
16.	क्षीण वर्षा क्षेत्रों के लिए उपयोगी कृषिवानिकी *आर.के. तिवारी, इन्दर देव एवं सुशील कुमार*	

बुन्देलखण्ड एवं कृषिः स्थिति, समस्याएँ एवं संभावनाएं

दिनेश कुमार[1], राम स्वरुप यादव[2], मुकेश कुमार मीणा[1], देवीदीन यादव[2], पवन कुमार[2], आलोक शिव[3] एवं राकेश चौधरी[4]

सारांश : बुन्देलखण्ड क्षेत्र 7.5 लाख कि.मी.^{2} में फैला अर्धशुष्क पठारी भाग है जिसमे मध्य प्रदेश के 7 जिले (छतरपुर, दतिया, दमोह, पन्ना, सागर, टीकमगढ़ एवं निवाड़ी) तथा उत्तर प्रदेश के 7 जिले (बाँदा, चित्रकूट, हमीरपुर, जालौन, ललितपुर, महोबा व झाँसी) शामिल हैं। यह देश के सबसे अधिक पिछड़े क्षेत्रों में से एक माना जाता है। बुन्देलखण्ड नाम इसके सबसे लंबे समय तक शासन करने वाले बुंदेला राजपूतों से लिया गया है। इस क्षेत्र में जीवन जलवायु, भौगोलिक विशेषताओं और पर्यावरण की विषमताओं जैसे कई कारकों से प्रभावित होता है। इस क्षेत्र में अधिकांश हिस्सों में स्थल आकृति ढालू है, हालांकि क्षेत्र के मध्य भाग में समतल भूमि मौजूद है। यह क्षेत्र हर्बल स्रोतों, पौधों और खनिजों से समृद्ध है। हालांकि, भूजल की उपलब्धता हमेशा बहुत अच्छी नहीं होती है।

परिचय : बुन्देलखण्ड क्षेत्र प्राकृतिक सम्पदा में धनी है। यहाँ का भौगोलिक स्वरूप समतल, पठारी व वनों से आच्छादित है। लगभग 7.5 लाख कि.मी.^{2} क्षेत्र में फैले बुन्देलखण्ड की कुल आबादी लगभग 18.3 मिलियन से भी ज्यादा है, जिसका करीब 30 प्रतिशत निरक्षर है। क्षेत्र की लगभग 85 प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है। प्राकृतिक जल स्रोतों का एक बड़ा व सशक्त जाल भी यहाँ मौजूद है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के दो भागों में फैले बुन्देलखण्ड में छोटी–बड़ी करीब 35 नदियाँ हैं। मोटे तौर पर देखा जाए तो आज भी बुन्देलखण्ड में प्राकृतिक व परंपरागत स्रोतों की कमी नहीं है। यहाँ के लोगों को फिर भी अक्सर सूखा और जल संकट जैसी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। भू आकृति के कारण बुन्देलखण्ड में भू–क्षरण की समस्या विकराल है। प्रत्येक वर्ष उपजाऊ मिट्टी, वर्षा के पानी के साथ बहकर नदी–नालों में चली जाती है। जल संरक्षण तकनीकों की कमी, कम एवं असामयिक वर्षा, मृदा अपरदन, अत्यधिक ढालू एवं पथरीली भूमि होने से यह क्षेत्र बहुत पिछड़ा हुआ है।

बुन्देलखण्ड की मृदाएँः

सामान्य तौर पर बुन्देलखण्ड की मिट्टी काली और लाल मिट्टी का मिश्रण है। क्षेत्र की लाल मृदाएँ नवगठित है, जो गहराई में काफी उथली हैं तथा इनमें रेत का प्रतिशत ज्यादा रहता है। इन मिट्टी की जल धारण क्षमता काफी कम होती है जो की अवशिष्ट नमी के आधार पर रबी फसलों का समर्थन करने में असमर्थ हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र की मिट्टी को उनकी वर्णव्यवस्था के आधार पर 4 वर्गों, परुआ (58.5 प्रतिशत), काबर (31.4 प्रतिशत), राकर (17.6 प्रतिशत) और मार (12.4 प्रतिशत) में वर्गीकृत किया गया है। राकर मिट्टी उथले गहराई वाली है जो मोटे अनाज के लिए अत्यधिक उपयुक्त है। परुआ मिट्टी जलोढ़ मिट्टी, मध्यम दर के साथ लाल और भूरे रंग की मिट्टी का मिश्रण है। मार और काबर काली मिट्टी हैं जो 40 इंच की गहराई तक फैली हैं। ये मिट्टी फैलाव और सिकुड़ने के गुणों वाली महीन बनावट वाली मिट्टी है जो गर्मियों के दौरान दरारें विकसित करती है। लाल मिट्टी आमतौर पर नमी बनाए रखने की कम क्षमता वाली उथली मिट्टी हैं जो मुख्य रूप से उत्तर–पश्चिमी क्षेत्रों में पाई जाती हैं। जबकि, काली मिट्टी ज्यादातर दक्षिण क्षेत्र में पाई जाती है। काली मिट्टी, चावल, गेहूँ, चना और गन्ने की खेती के लिए किसानों की पसंद हैं क्योंकि इन मिट्टी की जल धारण क्षमता बेहतर होती है। लगातार ऊपरी मिट्टी का कटाव और वनों की कटाई क्षेत्र में फसलों के कम उत्पादकता के लिए प्रमुख खतरा हैं। पहाड़ी इलाकों, और मिट्टी की खराब गुणवत्ता, मिट्टी के कटाव की समस्या को बढ़ाती है जिससे व्यापक गलियों का निर्माण होता है।

बुन्देलखण्ड में जलवायु व वर्षाः

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की जलवायु गर्म और अर्ध–शुष्क के रूप में परिभाषित की जाती है। इस क्षेत्र में तापमान चरम सीमा पर होता है, जो गर्मियों के दौरान 45 डिग्री सेंटीग्रेड को पार कर जाता है और सर्दियों के दौरान 1 डिग्री सेंटीग्रेड तक गिर जाता है, हालांकि क्षेत्र का औसत वार्षिक तापमान 25 डिग्री सेल्सियस है। मई और जून चरम तापमान वाले महीने हैं, जो दिसम्बर और जनवरी के दौरान सबसे कम हो जाता है। वर्षा का वितरण अत्यधिक असमान है, और जून से सितम्बर महीनों के दौरान 85 प्रतिशत से अधिक बारिश होती है। क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा 850 मिमी. होती है। इस क्षेत्र में प्राप्त अधिकांश वर्षा अपवाह के माध्यम से खो जाती है। सर्दियों के महीनों के दौरान भी वर्षा की कुछ मात्रा प्राप्त होती है, जो रबी फसलों को कुछ नमी प्रदान करती है, हालांकि, सर्दियों के महीनों के दौरान प्राप्त वर्षा इस क्षेत्र में उगाई

[1]भाकृअनुप–भारतीय मृदा एवं जल संरक्षण संस्थान, अनुसंधान केंद्र दतिया (मध्य प्रदेश), [2]भाकृअनुप–भारतीय मृदा एवं जल संरक्षण संस्थान, देहरादून (उत्तराखंड)
[3]भाकृअनुप–भारतीय गन्ना अनुसंधान संस्थान, लखनऊ (उत्तर प्रदेश), [4]रानी लक्ष्मीबाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी–284003 (उत्तर प्रदेश)

जाने वाली फसलों की पानी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है, इसलिए इस आवश्यकता को सिंचाई द्वारा पूरा किया जाता है। ग्रीष्मकाल के दौरान सूखे जैसी परिस्थितियाँ अक्सर देखने को मिल जाती हैं और कभी–कभी मानसून के दौरान बारिश बाढ़ पैदा करती है। क्षेत्र के उत्तरी भाग में क्षेत्र के दक्षिण–पूर्वी भाग की तुलना में कम वर्षा होती है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में जल संसाधनः

चंदेला राजाओं ने यहाँ जल संग्रहण करने के लिए तालाब बनवाए। इनका सिंचाई के लिए कभी भी इस्तेमाल नहीं किया जाता था। दरअसल इस मकसद के लिए कुँओं का उपयोग होता था। यहाँ पानी को एक बड़े जलस्रोत में एकत्रित किया जाता है, जिसके लिए एक चुनिंदा क्षेत्र में तालाब बनाया जाता है जो

तालिका 1 : बुन्देलखण्ड में पायी जाने वाली मृदाएँ।

मिट्टी के प्रकार	राकर	परवा	काबर	मार
गुण	लाल, उच्च बनावट दर और कम पानी धारण की क्षमता के साथ मोटे बनावट वाले मिट्टी के मोटे टुकड़े	मिश्रित लाल और भूरा, मध्यम बनावट दर और कम पानी धारण क्षमता के साथ महीन बनावट वाली दोमट भूमि	मध्यम भूस्खलन और जल धारण क्षमता के साथ तराई मिट्टी के लिए काले–भूरे, महीन बनावट वाली मध्यम दोमट मिट्टी	खराब जल निकासी के साथ काली मिट्टियाँ, गर्मियों के दौरान फैलाव एवं सिकुड़न की विशेषताएं
रेत (प्रतिशत)	66–72	66–68	44–46	26–30
सिल्ट (प्रतिशत)	18–22	19–22	28–31	22–32
मृतिका (प्रतिशत)	10–12	11–13	24–26	38–52
पी एच (pH)	7.6–8.0	7.5–7.9	7.4–7.5	7.4–7.5
ई सी	0.10–0.17	0.09–0.18	0.15–0.28	0.16–0.22
जैविक कार्बन (प्रतिशत)	0.26–0.28	0.32–0.36	0.36–0.38	0.43–0.55
उपलब्ध नत्रजन (किग्रा $हे^{-1}$)	160–230	235–260	201–270	260–300
उपलब्ध फास्फोरस (किग्रा $हे^{-1}$)	7–10	10–15	13–18	15–19
उपलब्ध पोटाश (किग्रा $हे^{-1}$)	200–300	290–340	450–500	630–757
आयरन (मिग्रा $किग्रा^{-1}$ मृदा)	3.0–3.9	3.8–4.2	4.8–5.2	4.7–5.4
मंगनीज़ (मिग्रा $किग्रा^{-1}$ मृदा)	1.5–1.8	1.6–2.1	2.5–3.1	2.3–2.8
कॉपर (मिग्रा $किग्रा^{-1}$ मृदा)	0.1–0.2	0.1–0.4	0.2–0.7	0.5–0.8
ज़िंक (मिग्रा $किग्रा^{-1}$ मृदा)	0.2–0.4	0.6–0.8	0.5–0.8	0.7–0.9
प्रक्षेत्र क्षमता (प्रतिशत)	13–15	15–17	15–18	18–22
स्थायी म्लानि बिन्दु (प्रतिशत)	4–6	5–6	5–7	6–8

स्त्रोतः भाकृअनुप–भारतीय मृदा एवं जल संरक्षण संस्थान अनुसंधान केंद्र, दतिया (मध्य प्रदेश)

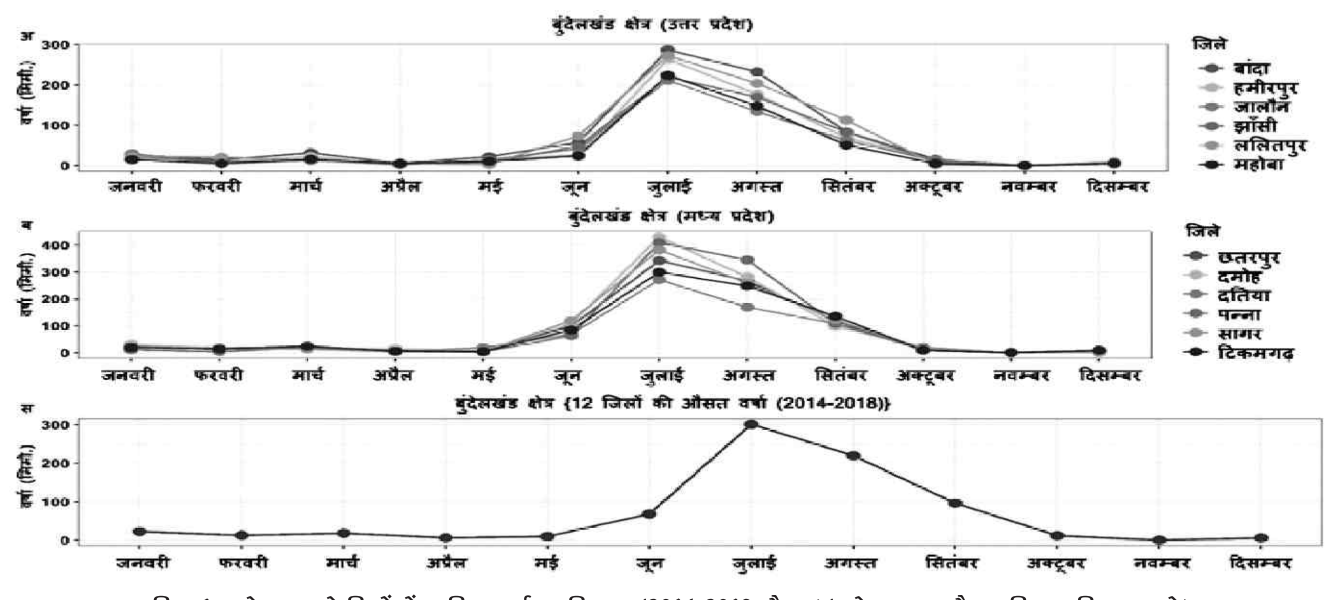

चित्र 1: बुन्देलखण्ड के जिलों में मासिक वर्षा का वितरण (2014–2018 औसत)(स्त्रोत-भारत मौसम विज्ञान विभाग, पुणे)

आमतौर पर दो जुड़े पहाड़ों के बीच होता है। ये तालाब आमतौर पर पूरे क्षेत्र में ऊपर से नीचे के क्रम में फैले होते हैं, जिससे एक तालाब का पानी या तो सतह से होता हुआ या फिर भूजल प्रवाह से दूसरे तालाब में पहुँचता रहता है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक जलस्रोत के चारों तरफ कुँओं का पुनर्भरण होता रहता है और फिर इन कुँओं से सिंचाई की जाती है। इससे तालाबों के पानी का ज्यादा उपयोग नहीं होता है और पानी सूखे की अवधि में भी उपलब्ध होता रहता है। इसमें जलधाराओं, प्राकृतिक नालों के पानी का भी उपयोग किया जाता है। बुन्देलखण्ड में पानी की बात करें तो यहाँ प्राकृतिक जल स्रोतों का एक बड़ा व सशक्त जाल है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के दो भागों में फैले बुन्देलखण्ड में छोटी–बड़ी करीब 35 नदियाँ हैं। यमुना, बेतवा, केन एवं बागै समेत लगभग 7 नदियाँ राष्ट्रीय स्तर की हैं। बुन्देलखण्ड में साढ़े 17 हजार से अधिक प्राचीन तालाब हैं तथा सरकारी व निजी प्रयासों से काफी संख्या में नए तालाब भी खोदे जा चुके हैं। पेयजल के लिए कुंएं यहाँ की अमूल्य धरोहर हैं, इनकी संख्या 35 हजार से ज्यादा है। बुन्देलखण्ड में जल संरक्षण का जो प्राचीन तरीका है, वह अकेले तालाब व कुँओं तक ही सीमित नहीं था। इसमें बावड़ी की भी अहम भूमिका है। आज भले ही ये दोनों गुमनामी की कगार पर हैं लेकिन बुन्देलखण्ड में इन दोनों की संख्या करीब 400 रही है जिससे इसमें 360 बीहर व 40 बावड़ी शामिल हैं। दस विशेष प्राकृतिक जल स्रोत हैं, जिन्हें हम कालिंजर दुर्ग, श्री हनुमान धारा पर्वत, गुप्त गोदावरी व बाँदा के तुर्रा गाँव के पास नेशनल हाईवे पर विसाहिल नदी में देखते हैं। इन प्राकृतिक स्रोतों से हर समय जलधाराएं निकलती रहती हैं। यहाँ बाँधों की संख्या आधा सैकड़ा से भी ज्यादा है। मोटे तौर पर देखा जाए तो आज भी बुन्देलखण्ड में प्राकृतिक व परंपरागत स्रोतों की कमी नहीं है। फिर भी यहाँ के लोगों को अक्सर सूखा जैसी आपदाओं का सामना करना पड़ता है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र का भूमि उपयोग स्वरूप/प्रतिरूपः

उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, बुन्देलखण्ड (7078.80 हजार हेक्टेयर) के कुल भौगोलिक क्षेत्र में से, लगभग 61 प्रतिशत क्षेत्र खेती योग्य है और बाकी क्षेत्र को, बुन्देलखण्ड के जंगलों के 20 प्रतिशत सहित कई अन्य भूमि उपयोगों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के जिलेवार भूमि उपयोग स्वरूप / प्रतिरूप को तालिका 1.2 में प्रस्तुत किया गया है। तालिका 1.3 में प्रस्तुत जिलेवार आंकड़ों से संकेत मिलता है कि इस क्षेत्र में कुल बुवाई का क्षेत्रफल 3835.60 हजार और सकल फसली क्षेत्र का 4822.20 हजार हेक्टेयर है। क्षेत्र की फसल की सघनता 126 प्रतिशत है जो राष्ट्रीय औसत से काफी कम है। क्षेत्र में 2074.43 हजार हेक्टेयर शुद्ध सिंचित क्षेत्र (कुल खेती योग्य क्षेत्र का केवल 48 प्रतिशत और शुद्ध बोया गया क्षेत्र का 54 प्रतिशत) और असिंचित वर्षा आधारित क्षेत्र का 2305.00 हजार हेक्टेयर है जो फसलों को नमी के स्रोत के रूप में पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर करता है।

तालिका 2 : क्षेत्र का भूमि उपयोग स्वरूप/प्रतिरूप

जिला	भौगोलिक क्षेत्रफल ('000 हे.)	खेती योग्य क्षेत्र ('000 हे.)	वन क्षेत्र ('000 हे.)	गैर-कृषि उपयोग के तहत भूमि क्षेत्र ('000 हे.)	स्थायी चरागाहों के अंतर्गत क्षेत्र ('000 हे.)	खेती योग्य बंजर भूमि के अंतर्गत क्षेत्र ('000 हे.)	विविध वृक्षों, फसलों और पेड़ों के नीचे भूमि क्षेत्र ('000 हे.)	बंजर और अनुपजाऊ भूमि के तहत क्षेत्र ('000 हे.)	वर्तमान परती के तहत क्षेत्र ('000 हे.)	अन्य परती के तहत क्षेत्र ('000 हे.)
दतिया	295.9	186.7	29.4	23.8	4.6	10.3	2.8	12.7	16.5	9.1
सागर	1022.8	537.4	298.0	53.0	85.4	10.3	1.3	14.6	9.5	13.3
पन्ना	702.9	270.2	299.7	42.0	8.3	60.0	0.0	22.7	21.7	14.4
टीकमगढ़	504.0	292.2	68.6	23.6	24.5	22.8	0.2	72.1	60.6	22.8
छतरपुर	863.0	469.3	214.0	44.2	63.3	70.3	0.3	1.6	105.0	44.4
दामोह	728.6	322.6	267.1	32.1	33.9	13.6	0.1	59.2	4.7	6.5
बांदा	438.9	389.9	5.4	31.9	0.4	12.6	1.5	11.3	19.4	12.9
चित्रकूट	338.9	174.5	59.7	29.3	0.05	–	26.3	–	13.54	5.2
हमीरपुर	390.9	325.8	24.5	32.9	0.5	8.6	0.7	7.1	16.9	5.3
जालौन	454.4	377.3	28.2	39.0	0.2	1.5	1.6	9.8	20.7	6.8
झाँसी	501.3	332.3	34.4	42.3	0.7	–	0.9	–	62.2	7.6
ललितपुर	509.8	374.0	76.2	41.6	2.9	47.8	1.2	15.1	11.4	12.5
महोबा	327.4	264.1	16.2	38.8	0.5	10.3	0.7	7.8	11.6	6.0
बुन्देलखण्ड (योग)	7078.8	4316.3	1421.4	474.4	225.25	268.1''	37.6	234''	373.74	166.8

– आंकड़े उपलब्ध नहीं (स्त्रोत–ऐग्रीकूप.निक.इन)

तालिका 3 : बुन्देलखण्ड का कृषि भूमि उपयोग

जिला	शुद्ध बोया हुआ क्षेत्र ('000 हे.)	एक से अधिक बार बोया गया क्षेत्र ('000 हे.)	सकल फसली क्षेत्र ('000 हे.)	फसल की सघनता (प्रतिशत)	शुद्ध सिंचित क्षेत्र ('000 हे.)	सकल सिंचित क्षेत्र ('000 हे.)	वर्षा-पोषित क्षेत्र ('000 हे.)
दतिया	195.9	34.5	230.5	117.6	172.4	175.7	58.1
सागर	537.4	198.9	736.3	137.0	241.0	241.1	296.4
पन्ना	234.1	34.8	268.9	115.0	78.5	78.6	155.6
टीकमगढ़	208.8	92.2	301.0	144.0	110.3	145.2	98.5
छतरपुर	319.9	84.8	404.7	127.0	157.0	157.0	162.9
दामोह	311.4	94.2	405.6	130.0	115.8	118.6	195.6
बांदा	343.5	84.9	428.5	124.7	157.7	205.9	185.7
चित्रकूट	174.5	–	–	–	42.2	–	129.3
हमीरपुर	294.2	50.9	345.1	117.33	134.7	135.3	159.5
जालौन	346.7	62.8	409.5	118.0	225.7	242.4	121.1
झाँसी	332.3	–	432.4	130.14	237.2	–	95.1
ललितपुर	301.1	–	–	130.1	301.1	211.1	512.3
महोबा	235.7	84.0	319.7	121.0	100.8	101.6	134.9
बुन्देलखण्ड (योग)	3835.6	822.03	4282.2020''	125.99''	2074.33	1812.53	2304.96

– आंकड़े उपलब्ध नहीं (स्त्रोत–ऐग्रीकूप.निक.इन)

क्षेत्र का कृषि परिदृश्यः

क्षेत्र की कृषि उत्पादकता (प्रति व्यक्ति और प्रति हेक्टेयर) बेहद कम है, और यह अच्छी तरह से स्थापित तथ्य है कि प्रति/व्यक्ति प्रति हेक्टेयर लाभप्रदता और उत्पादकता में वृद्धि के बिना कृषि गरीबी को दूर नहीं किया जा सकता है। क्षेत्र में पानी की कमी की सामान्य विशेषता के साथ, जो लंबे समय से बुन्देलखण्ड की विशेषता रही है, यह कोई आश्चर्य नहीं है कि कृषि उत्पादकता कम है। खेती किए गए क्षेत्र में, प्रमुख फसलें अनाज, दाल और तिलहन हैं। इस क्षेत्र के किसान बड़े पैमाने पर खाद्यान्न की खेती करते हैं, जबकि फलों और सब्जियों बागवानी को व्यावसायीकरण के दुर्लभ स्तर के साथ परिवार के उपभोग के लिए उगाया जाता है। अनाज मे, गेहूँ प्रमुख फसल है जिसकी खेती 14.62 लाख हेक्टेयर में की जाती है, जिसके बाद चावल की खेती 2.33 लाख हेक्टेयर क्षेत्र पर की जा रही है। उरद और चना, क्षेत्र की दो सबसे महत्वपूर्ण दलहनी फसलें हैं (क्रमशः 6.82 और 6.37 लाख हेक्टेयर

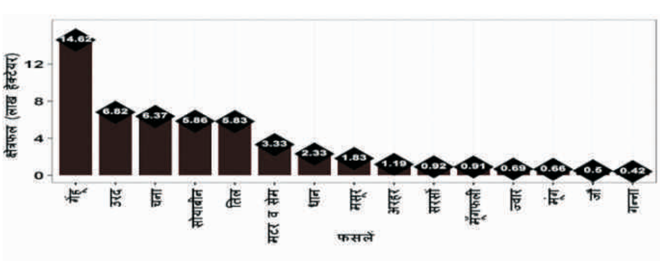

चित्र 2: बुन्देलखण्ड में बोयी जाने वाली मुख्य फसलों का क्षेत्रफल(स्त्रोत–क्षेत्र और उत्पादन सांख्यिकी, कृषि और किसान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार)

क्षेत्र में खेती की जाती हैं) जिनकी खेती क्षेत्र के किसानों द्वारा की जाती हैं (चित्र 1.2)। सोयाबीन और तिल जैसे तिलहनों को भी किसानों द्वारा वरीयता दी जाती है और ये दोनों फसलें इस क्षेत्र की मुख्य 5 फसलों (क्षेत्रवार) में शामिल है। मसूर, अरहर, सरसों, मूँगफली, मूँग, जौ और गन्ना अन्य महत्वपूर्ण फसलें हैं जिनकी इस क्षेत्र में खेती की जाती हैं। क्षेत्र में बहुत छोटे पैमाने पर बाजरा जैसी फसलों की खेती भी की जाती है। जैसा कि इस क्षेत्र के अधिकांश किसान लघु व सीमान्त किसान हैं, और फसलों की खेती केवल उनकी पारिवारिक जरूरतों को बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं है, इसलिए भैंस/गाय/बकरियों/भेड़ों को कम संख्या में पालना यहाँ एक आम बात है। यह कृषि आय के पूरक के रूप में नकदी प्रदान करता है, और पारिवारिक उपभोग के लिए अति आवश्यक पोषण भी प्रदान करता है। फलों और सब्जियों की व्यावसायिक खेती इस क्षेत्र में दुर्लभ है, इसके बजाय फलों के पौधे परिवार की खपत के लिए खेत की परिधि में उगाए जाते हैं।

बुन्देलखण्ड में कृषि व जलवायु संबन्धित क्षेत्रीय समस्याएँः

क्षेत्र की मृदाएँ कम गहरी व उथली हुई हैं जिनमें नमी की अपर्याप्तता बनी रहने के कारण फसलों की अच्छी उत्पादकता के लिए बहुत उपयुक्त नहीं मानी जाती हैं। लाल मृदाओं में कार्बन तथा मृतिका की कमी के कारण मृदा कणों का आपसी गठन काफी कमजोर रहता है जो वर्षा की तेज बूँदों से आसानी से बिखर जाता है। जबकि काली मिट्टियों में मृतिका की अधिकता के कारण वर्षाकाल में जल भराव की समस्या व कम या अधिक नमी के होने

पर उनके फूलने या सिकुड़ने के कारण कृषि कार्यों में अत्यधिक कठिनाई होती है। सीमित फसलों व विशिष्ट सस्य प्रबंधन की बाध्यता कृषि कार्यों में और भी कठिनाई उत्पन्न करती है। क्षेत्र में वन क्षेत्रों का क्षरण तथा भूगर्भ जल स्तर कमी लगातार जारी है। क्षेत्र में "अन्ना प्रथा" (पालतू दुधारू पशुओं को वर्षाकाल में जंगलों व चरागाह में छोड़ देने का चलन) की वजह से चरागाह व वनों पर अतिरिक्त दबाव तो बढ़ा ही है, साथ ही ये पशु झुंड में किसानों की फसलों में घुसकर भारी नुकसान कर देते हैं जिस वजह से किसान उन फसलों का चयन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं जिनमे ये पशु कम नुकसान करते हों, या फिर भूमि को परती रखने के लिए बाध्य होते हैं। वनों की कटाई व अत्यधिक क्षरण से पहाड़ियाँ वनस्पतिहीन हो रही हैं, जिस वजह से भूमि का कटाव अधिक होता है। क्षेत्र में पथरीली एवं भूगर्भीय ग्रेनाइट चट्टानों के कारण जमीन में पानी की अनिश्चितता व अपर्याप्तता बनी रहती है जो कुओं द्वारा सिंचाई पर निर्भर रहने वाले किसानों को भयंकर रूप से प्रभावित करती है। साथ ही क्षेत्रीय जलवायवीय विषमताएं जैसे वर्षा की कम मात्रा व उसके वितरण में असमानता, अत्यधिक वार्षिक वाष्पन, बार–बार सूखे की मार, भूमिगत जल स्तर में कमी, एवं बरसात के दिनों में पड़ने वाले लंबे शुष्क अंतराल के कारण फसलों को होने वाली हानि का जोखिम इस क्षेत्र में मुख्य कृषि समस्याएँ हैं।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में बेहतर कृषि संभावनाएंः

आर्थिक व कृषि क्षेत्र में अति पिछड़ा माने जाने वाले बुन्देलखण्ड क्षेत्र में कृषि स्थिति में बदलाव की अपार संभावनाएं हैं। यहाँ पर मृदा एवं जल संरक्षण तकनीकों को अपनाए बिना कृषि उत्पादकता बढ़ाना अपने आप में एक चुनौती है फिर भी मृदा एवं जल संरक्षण उपायों जैसे–जमीन का समतलीकरण, मेड़बंदी, वर्षा जल संचयन के लिए खेत तालाब निर्माण, भू–आच्छादन वाली फसलें और फसलचक्र अपनाकर यहाँ पर कृषि उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। विश्व व देश के कई हिस्सों में हुए अनुसंधान में संरक्षित खेती प्रणाली ने मृदा क्षरण की रोकथाम, मृदा की उर्वरता शक्ति में बढ़ोतरी, मृदा में कार्बन स्टॉक की बढ़ोत्तरी, तथा फसलों की जल उपयोग दक्षता बढ़ाते हुए फसलों की अधिक पैदावार प्राप्त करने में अपनी उपयोगिता साबित की है। बुन्देलखण्ड की जलवायुवीय व भोगौलिक परिस्थितियों को देखते हुये, संरक्षित कृषि प्रणाली के सिद्धांतों जैसे की न्यूनतम जुताई, स्थायी मृदा सतह आवरण व फसल विविधिकरण का उपयोग करके क्षेत्र की मृदाओं को क्षरण से बचाते हुए फसलों की उत्पादकता में इजाफा किया जा सकता है। क्षेत्र में धान की फसल लगभग 2-5 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में बोयी जाती है जो की पूरी तरह पारंपरिक पद्धति पर आधारित है। धान की एस.आर.आई. पद्धति, क्षेत्र में धान उत्पादन करने वाले किसानों के लिए सार्थक बदलाव लाने वाली पद्धति साबित हो सकती है। हालांकि अधिकतर किसान धान की खेती की इस उत्तम तकनीक से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। धान के कटाई के उपरांत फसल अवशेष जला दिये जाते हैं तदोपरांत गेंहूँ की फसल की बुवाई पारंपरिक विधि से की जाती है। शून्य जुताई द्वारा गेंहूँ की बुवाई करके किसान उत्पादन लागत को कम करने के साथ ही अधिक शुद्ध लाभ कमा सकते हैं। दुर्भाग्यवश संरक्षित खेती व शून्य जुताई पर ना ही तो बुन्देलखण्ड क्षेत्र में कोई अनुसंधान हुये हैं और ना ही इन उपयोगी तकनीकों के बारे में किसानों को अधिक जानकारी है। इस क्षेत्र में संरक्षित खेती प्रणाली का परीक्षण करके तथा किसानों के बीच में इन तकनीकों को लोकप्रिय बनाकर खेती में सार्थक बदलाव देखने को मिल सकते हैं। बार–बार पड़ने वाले सूखे व सिंचाई जल की उपलब्धता को देखते हुये सूक्ष्म सिंचाई तकनीकों (जैसे की फव्वारा सिंचाई, टपक सिंचाई व रैन गन सिंचाई) का उपयोग भी क्षेत्र में अभी तक सीमित दायरे में ही है। क्षेत्र में इन सिंचाई तकनीकों का प्रोत्साहन किसानों के लिए कम जल उपलब्धता के साथ अधिक पैदावार प्राप्त करने में वरदान साबित हो सकता है। क्षेत्र के किसान भरण पोषण के लिए सीमित संख्या में दुधारू पशु पालते हैं और फलोत्पादन व सब्जीउत्पादन भी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खेतों की मेड़ों पर वृक्ष आदि लगाकर करते हैं। पशुओं का गोबर जलाने वाले ईंधन के रूप में उपयोग किया जाता है।

निष्कर्ष : क्षेत्र की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाए गए समन्वित कृषि प्रणाली को अपनाकर, बायो–गैस प्लांट लगाकर किसानों को जलाने वाले ईंधन की पूर्ति के साथ साथ उच्च कोटि का जैविक खाद भी प्राप्त हो सकता है। साथ ही साथ फलों व सब्जियों की उपलब्धता बढ़ने से अच्छा पोषण भी मिलता है। इस प्रकार समन्वित कृषि प्रणाली किसानों की लागत को कम करने के साथ आय बढ़ाने में काफी कारगर सिद्ध हो सकती है। क्षेत्र में बागवानी के साथ–साथ, मसाला, सब्जी, सुगंधित व औषधीय फसलों की खेती की भी अपार संभावनाएं हैं। क्षेत्र में पशुधन की उपलब्धता को देखते हुए जैविक खेती की अपार संभावनाओं से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। कृषिवानिकी भूमि कटाव को रोक कर भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में सहायक है। पूर्व में वन संपदाओं से सम्पन्न रहे इस क्षेत्र में कृषिवानिकी अपनाकर, फसलों एवं बहु–उद्देशीय वृक्षों–झाड़ियों के उत्पादन के साथ साथ पशुपालन व्यवसाय को संरक्षित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त फसल विविधिकरण अपनाकर क्षेत्र की कृषि परिस्थितिकी को संतुलित किया जा सकता है। उपरोक्त के अलावा मधुमक्खी पालन, फूलों की खेती, मछली पालन व मुर्गी पालन क्षेत्र के किसानों के लिए एक सुनहरे भविष्य की ओर इंगित करते हैं।

वर्षा आधारित क्षेत्रों में जल बचत तकनीकें और किसानों की आय को बढ़ाने हेतु सुझाव

कविता भादू

सारांश : हमारे देश की आर्थिक उन्नति में कृषि का बहुमूल्य योगदान है। देश में अधिकांश कृषि योग्य भूमि वर्षा आधारित है। वर्षा आधारित खेती में हमेशा अनिश्चितता बनी रहती है, क्योंकि वर्षा की तीव्रता तथा मात्रा पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता है। भाकृअनुप–केन्द्रीय बारानी कृषि अनुसंधान संस्थान, हैदराबाद, तेलंगाना के अनुसार, ऐसे क्षेत्र जहाँ 30 प्रतिशत से कम सिंचित क्षेत्रफल हैं, वर्षा आधारित क्षेत्रों में आते हैं। इन क्षेत्रों में कृषि उत्पादन पूर्ण रूप से मानसूनी एवं गैर मानसूनी वर्षा पर निर्भर करता है। अक्सर ये क्षेत्र सूखे से ग्रसित होते हैं तथा प्रत्येक तीन वर्षों में अक्सर एक बार सूखा पड़ता है।

परिचय :

वर्षा आधारित कृषि क्षेत्र देश के कुल कृषि क्षेत्रफल के लगभग 60 से 65 प्रतिशत भूभाग में फैला हुआ है। ये क्षेत्र महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु आदि राज्यों के साथ देश में लगभग पंद्रह राज्यों में फैले हुए हैं। पश्चिमी एवं पूर्वी राजस्थान, गुजरात, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु राज्य इससे सबसे ज्यादा प्रभावित हैं। वर्तमान में ये क्षेत्र देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इन क्षेत्रों के अंतर्गत लगभग 48 प्रतिशत खाद्यान फसल क्षेत्र एवं लगभग 68 प्रतिशत अन्य फसल क्षेत्र आते हैं। इन क्षेत्रों में ज्वार, बाजरा, मक्का, दलहन, मूँगफली, कपास और सोयाबीन को काफी हिस्सों में बोया जाता है। कृषि की समृद्धि, मृदा की गुणवत्ता एवं जल की उपलब्धता तथा इन दोनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर निर्भर करती है। वर्षा आधारित कृषकों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसी विधियों का उपयोग करना आवश्यक होगा जो कम खर्चीली तथा आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हों। वर्षा ऋतु के आगमन से पूर्व ही कुछ व्यवस्थाएं करनी पड़ेगी जिससे वर्षा से होने वाले भू–क्षरण को कम करके वर्षा जल का अधिकतम उपयोग खेती में किया जा सके। वर्षा पर आधारित खेती के लिए तकनीकी रूप से जल बचत की विभिन्न विधियों का सुनियोजित उपयोग करना अति आवश्यक होगा।

जल बचत तकनीकें: भूमि एवं जल प्रकृति द्वारा मनुष्य को दी गई दो अनमोल संपदाएं हैं। वर्षाजल का संचयन वर्षा आधारित कृषि में सिंचाई हेतु बहुलाभकारी सिद्ध होता है। वर्षा पर आधारित खेती को अधिक सफल बनाने के लिए वर्षा की एक–एक बूँद का उपयोग अति आवश्यक है चाहे वह नमी के रूप में भूमि में निहित रहे या वर्षा जल को किसी उचित स्थान पर संचित करके किया जाए जिससे आवश्यकता पड़ने पर सिंचाई की जा सके। वर्षा आधारित कृषकों हेतु जल की पर्याप्तता एवं शुद्धता बनाए रखने हेतु इसका उचित प्रबंधन आवश्यक है। इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण तकनीकियाँ इस प्रकार हैं।

- ड्रिप या टपक (बूँद–बूँद सिंचाई) प्रणाली वर्षा आधारित कृषकों हेतु सिंचाई की एक उन्नत विधि है, जिसके प्रयोग से सिंचाई जल की पर्याप्त बचत की जा सकती है।
- पानी की बचत और उत्पादन की अधिक पैदावार के लिहाज से बौछारी स्प्रिंकलर सिंचाई प्रणाली अति उपयोगी और वैज्ञानिक तरीका मानी गई है। इसे 'ओवर हेड' सिंचाई भी कहते हैं।
- वर्षा जल को पुर्नभरण खाई खोदकर भूमि के अंदर पहुंचा दिया जाता है, इससे वर्षाजल का संचयन कर भूमिगत जलस्तर को बढ़ाया जा सकता है।
- जलग्रहण या वाटरशेड भूमि पर एक जल निकास क्षेत्र है, जो वर्षा के बाद बहने वाले जल को किसी नदी, झील, बड़ी धारा अथवा समुद्र में मिलाता है। इस उपाय के अंतर्गत कृषि भूमि के लिए ही नहीं, अपितु भूमि जल संरक्षण, अनुपजाऊ एवं बेकार भूमि का विकास, वनरोपण और वर्षाकाल के जल का संचयन कार्य किया जा सकता है।
- पर्वतीय क्षेत्रों में वर्षा जल संचयन हेतु पॉलिथीन युक्त टैंकों का निर्माण किया जा सकता है। इन पॉलिथीन युक्त टैंकों की बनावट, सुरक्षा तथा रखरखाव हेतु टैंक की क्षमता का आंकलन जल की आवश्यकता तथा उपलब्धता के आधार पर ठीक प्रकार से होना चाहिए। पॉलिथीन की मोटाई 0–25 मिलीमीटर से कम नहीं होनी चाहिए और न ही उसमें कोई छेद होना चाहिए।

पीएच.डी. विद्यार्थी
राजमाता विजयाराजे सिंधिया कृषि विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

वर्षा आधारित क्षेत्रों में किसानों की आय बढ़ाने हेतु सुझाव

1. अनुसंधान, नीतियाँ एवं कार्यक्रमों का दायरा प्रत्येक किसान के खेत पर केंद्रित करने की आवश्यकता है, क्योंकि इन क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की विविधता विद्यमान है।
2. विकसित की गई कृषि तकनीकों को समय के साथ पुनः परिष्कृत/संशोधित करके पूर्ण पैकेज के रूप में किसानों तक पहुँचाया जाना चाहिए।
3. प्राकृतिक संसाधनों में मृदा एवं जल के समुचित प्रबंधन को सर्वोपरी प्राथमिकता देते हुए, इस दिशा में और कार्य करने की आवश्यकता है।
4. तकनीक के सभी घटकों (बीज, रासायनिक खाद, बुवाई यंत्र, पशुधन की नस्लें, खेत तालाब इत्यादि) को एक साथ किसानों तक पहुँचाया जाए। साथ ही साथ यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि किसानों को उत्पादित माल की उचित कीमत प्राप्त हो।
5. माल की उचित विविधिकरण के साथ कृषि प्रणाली में पशुधन को शामिल करने की जरूरत है।
6. कृषि मौसम सलाह को प्रत्येक गाँव के स्तर तक पहुँचाने की अति आवश्यकता है। इस दिशा में कृषि विस्तार तंत्र को और मजबूत करने की जरूरत है। साथ ही साथ कृषि विस्तार की नई विधाएं विकसित करने की आवश्यकता है, जिससे उपलब्ध तकनीकों एवं सूचनाओं को सरल भाषा एवं तीव्रता के साथ किसानों तक पहुँचाया जा सके।
7. कृषि आगतों (बीज, रासायनिक खाद, जीवाणु खाद, कृषि यंत्र, रोग एवं कीटनाशक दवाइयां इत्यादि) की सुगम एवं सुलभ उपलब्धता की दिशा में कार्य करने की आवश्यकता है।
8. गाँव स्तर पर सामुदायिक बीज एवं चारा बैंक, सामुदायिक उपयोग केंद्र, कृषि बीमा, विपणन तंत्र इत्यादि पर नीतियाँ और क्रियान्वयन के लिए ठोस रणनीति बनाने की आवश्यकता है।
9. वर्तमान में कृषि, ज्ञान आधारित होती जा रही है। अतः ऐसी रणनीति एवं योजनायें बनाने की जरूरत है, जिनसे शिक्षित युवा इस तरफ आकर्षित हो सकें।
10. इन क्षेत्रों में तकनीकी दक्षता हासिल करने के लिए वैज्ञानिकों के बहुआयामी एवं बहु संस्थान दल तैयार कर अनुसंधान का दायरा बढ़ाने की नितांत जरूरत है।

निष्कर्ष :

समय पर उपरोक्त सुझावों पर कार्रवाई की जाती है तो इससे कृषि प्रणाली में स्थिरता, प्रतिस्पर्धा, विपरीत जलवायु से लड़ने की क्षमता के साथ ही उपलब्ध संसाधनों का सरंक्षण एवं समुचित उपयोग भी किया जा सकता है। इस प्रकार इन क्षेत्रों के कृषकों में कृषि आय को बढ़ाने की क्षमता विकसित की जा सकती है। कुल मिला कर निष्कर्ष यही निकलता है कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन क्षेत्रों के किसानों को जल बचत की उचित तकनीकों से निरंतर अवगत कराते रहना होगा। इसके साथ ही साथ जन सहभागिता की भी परम आवश्यकता है। जब तक किसान भाई इस नेक काम हेतु जागृत नहीं होंगे, प्रकृति द्वारा प्रदत्त यह उपहार यूं ही व्यर्थ होता रहेगा और वर्षा आधारित कृषि से जुड़े हमारे किसान भाईयों को एक–एक बूँद के लिए संघर्ष करते हुए देखना पड़ेगा।

अगर संघर्ष न रहे, किसी भी भय का सामना न करना पड़े, तब जीवन का आधा स्वाद ही समाप्त हो जाता है।

*****

जो कुछ भी तुमको कमजोर बनाता है – शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक, उसे जहर की तरह त्याग दो।

*****

सच्ची सफलता और आनंद का सबसे बड़ा रहस्य यह है – वह पुरूष या स्त्री जो बदले में कुछ नहीं माँगता। पूर्ण रूप से निःस्वार्थ व्यक्ति, सबसे सफल है।

*****

कष्टों का निःसंदेह एक आंतरिक नैतिक मूल्य होता है।

वर्षा आधारित क्षेत्रों में किसानों की आय को दोगुना करने में आने वाले अवरोध एवं उनका समाधान

विनोद कुमार सचान

सारांश : देश की कृषि नीतियाँ किसानों की आय को दोगुना करने ले लिए संकल्पित है। आय को दोगुना करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के स्वरूप एवं जैव विविधता को सम्पन्न बनाना होगा। प्राकृतिक संसाधनों एवं जैव विविधता को खराब करने वाले रसायनों में दिए जा रहे अनुदान इस अभियान में बाधा बने हुए है। बढ़ती आबादी की खाद्य जरूरतों को पूर्ण करने के लिए आज हम जिस आधुनिक कृषि उत्पादन प्रणाली को अपना रहे हैं उससे प्राकृतिक संसाधनों एवं जैव विविधता का स्वरूप खराब होता जा रहा है साथ ही मनुष्य नाना प्रकार की बीमारियों की गिरफ्त में फंसता जा रहा है। शायद इसी विषय को ध्यान में रखते हुए पिछले कुछ वर्षों से देश की कृषि नीतियाँ किसानों से परम्परागत कृषि की ओर लौटने की आग्रह कर रही हैं।

परिचय :

टिकाऊ कृषि, जैविक कृषि, परम्परागत कृषि की ओर आगे बढ़ने के लिए भूमि का उर्वर होना, गाँव में सतही जल के पर्याप्त भंडार का होना, खेतों की मेड़ों पर पेड़ों का होना, फसलों के अवशेष एवं पशुओं के मल–मूत्र को सड़ाने के प्रबंध का होना, सहफसली एवं मिश्रित खेती करना, बैल आधारित कृषि को बढ़ावा देना, नगदी फसलों का लालच छोड़ना जैसे उपायों पर कार्यक्रम बनाने की जरूरत है। परन्तु रसायनिक उर्वरकों पर, अनुदान के कारण किसान इन्हें छोड़ने को तैयार नहीं है। ठीक इसी प्रकार गन्ना, गेंहूँ, धान जैसी फसलें जिनमें अधिक पानी की आवश्यकता हैं एवं अधिक मात्रा में रसायनिक उर्वरक एवं फसल सुरक्षा रसायन चाहती है उन फसलों की उपज को समर्थन मूल्य पर खरीदने की व्यवस्था सरकार ने दी है, परन्तु ज्वार, बाजरा, अलसी, उर्द, मूँग, तिली जैसी कम पानी वाली फसलों की सहफसली खेती के लिए जरूरत है। इन फसलों की उपज भोजन में अधिक मूल्य रखती है।

किसान अपनी कुल आय का पचास प्रतिशत हिस्सा रसायनों एवं ट्रैक्टर के किराए में खर्च करता है– वर्तमान रसायन एवं ट्रैक्टर आधारित फसल उत्पादन प्रणाली में किसान की कुल आय का लगभग पचास प्रतिशत हिस्सा खर्च हो जाता है। एक सर्वे के अनुसार देश का किसान अपनी कुल आय का लगभग तीस प्रतिशत भाग रसायनिक उर्वरकों एवं फसल सुरक्षा रसायनों में खर्च करता है। किराए के ट्रैक्टर से खेती कराने वाले किसान को अपनी कुल आय का बीस प्रतिशत हिस्सा किराये के रूप में ट्रैक्टर मालिक को देना पड़ता है। जिन कृषकों के खेतों में स्वयं का ट्यूबवेल नहीं है उन्हें अपनी फसलों की सिंचाई में कुल आय का लगभग दस प्रतिशत हिस्सा देना पड़ता है। यदि किसान खेती के कार्यों में स्वयं की मजदूरी जोड़ देता है तो उसके हिस्से में भोजन के आलावा और कुछ नहीं बचता है।

खेती में भूसा एवं पशुपालन में गोबर ही शेष बचता है:

देश के किसानों से जब प्रश्न पूछा जाता है कि खेती में उन्हें क्या बचता है तो किसान बताता है कि लागत इतनी अधिक बढ़ गयी है कि भूसे के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता है। ठीक यही प्रश्न जब किसी पशुपालक से पूछा जाता है कि दूध बेचकर उसे कितनी आय प्राप्त होती है तो पशुपालक का उत्तर भी यहीं होता है कि भूसा एवं दाना इतना महंगा हो गया है कि गोबर के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता है।

फसलों के अवशेष एवं गोबर का सदुपयोग भूमि की उर्वरता को बढ़ाने में नहीं हो पाता है:

देश में मात्र 40 प्रतिशत लघु एवं सीमान्त कृषक ही ऐसे है जो फसलों के उत्पादन के साथ पशुपालन का काम करते है, शेष कृषक पशुपालन का काम बंद कर चुके है। जिन कृषकों के पास पशु नहीं है वह अपनी फसलों की कटाई हार्वेस्टर से कराते है और फसलों के अवशेष को खेत में ही जला देते है अथवा फेंक देते है। आज दुग्ध उत्पादन का काम गाँव से अधिक शहरों में किया जाता है, शहरों में दुग्ध उत्पादन करके जीविका चलाने वाले लोग पशुओं को भूसा, दाना बाजार से खरीदते हैं एवं पशुओं का मल–मूत्र नालियों में बहा देते है। कुल मिलाकर खेती से बचे फसल अवशेष एवं पशुपालन से बचे गोबर का सदुपयोग खेती में नहीं हो पाता है इसी लिए परम्परागत कृषि अथवा जैविक कृषि का काम आगे नहीं बढ़ पा रहा है। मनुष्य का धर्म है कि वह प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं जैव विविधता का संवर्धन निरंतर करता रहे क्योंकि

उप निदेशक कृषि, कृषि विभाग, उत्तर प्रदेश
ई–मेल : sachanjhansi@gmail.com

जीवन निरंतर है बेशक कल इस धरती पर हम नहीं होंगे किन्तु आन वाली पीढ़ी अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसी पृथ्वी पर निर्भर रहेंगी। प्रकृति के वैभव को ठीक बनाये रखने के लिए खेती का मतलब ठीक से समझना पड़ेगा। खेती का मतलब सिर्फ फसलों के उत्पादन से नहीं है अपितु फसलों के उत्पादन के साथ–साथ पशुपालन, बाग–बगीचों, जलाशयों के निर्माण से है।

मिश्रित एवं सहफसली खेती की ओर लौटना होगाः

आज के पचास वर्ष पूर्व देश के किसान खरीफ में ज्वार, बाजरे के साथ अरहर, तिल, उर्द की सहफसली अथवा मिश्रित खेती करते थे। धान के खेत की मेड़ों पर अरहर बो दिया करते थे। रबी ऋतू में जौ के साथ चना, मटर, मसूर के साथ राई–सरसों की सहफसली खेती करते थे। ऐसी खेती करने से जहाँ फसल चक्र का अनुपालन हो जाता है वहीं प्राकृतिक आपदाओं से होने वाले जोखिम भी कम हो जाते है। यदि देश की नीतियाँ प्रत्येक फसल का समर्थन मूल्य घोषित करके खरीद व्यवस्था को सुनिश्चित करें तो किसान इस ओर लौट सकता है।

खेती के साथ पशुपालन के कार्य को भी बढ़ाना होगाः

जब किसान फसलों के उत्पादन के साथ–साथ पशु पालन का काम करता था तब उसको पशु पालन से भी अतिरिक्त आय प्राप्त हो जाती थी, यहीं नहीं, घर पर पाले गये पशु फसलों का अवशेष खाकर जो मल–मूत्र देते थे उससे बनी खाद खेतों की उर्वरता को भी बढ़ाती थी। किन्तु गाँवो में पशु पालक को दूध का उचित मूल्य नहीं मिलता है इसी लिए दूध के व्यवसाय में लगे लोग शहरों में जाकर पशुपालन का काम करते हैं जहाँ उन्हें भूसा एवं दाना खरीदना पड़ता है और पशुओं का गोबर नाली में बहाना पड़ता है।

बैल आधारित कृषि की ओर लौटने का समय हैः

फसलों के उत्पादन में निरंतर बढती लागत एवं कृषि जोत का घटता आकार बैल आधारित कृषि की ओर लौटने का इशारा करता है। क्योंकि बैल आधारित कृषि से जहाँ रसायनों पर बढती निर्भरता कम होगी वहीं कृषि कार्यों में किराए के ट्रैक्टर में व्यय होने वाली धनराशि भी बचेगी साथ ही छुट्टा गौवंश की समस्या का समाधान भी मिल जाएगा। जब देश के किसान बैल आधारित कृषि करते थे तब छुट्टा पशुओं से खेतों की रखवाली भी नहीं करनी पडती थी और फसलों को अन्ना पशुओं से कोई क्षति नहीं होती थी। आज देश में लघु सीमान्त किसानों की संख्या बहुत अधिक है और इन किसानों के पास अपने स्वयं के नहीं है अपितु यह अपनी खेती का कार्य किराए के ट्रैक्टर से कराते है जिससे इनकी आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा किराये में खर्च हो जाता है।

खेतों की मेड़ों पर लगाने होंगे पेड़ः

पृथ्वी का बीस से पच्चीस प्रतिशत भू–भाग वृक्षों से ढका होना चाहिए। पेड़ों से गिरने वाली पत्तियाँ जहाँ भूमि की उर्वरता को बढाती है वहीं पेड़ नाना प्रकार के पक्षियों को शरण देते है। पेड़ों में बैठने वाले पक्षी फसलों में लगने वाले कीटों को खाकर फसलों की सुरक्षा भी करते है। खेतों की मेड़ों पर लगाये गये पेड़ों से जलाऊ लकड़ी के साथ–साथ इमारती लकड़ी एवं फल भी प्राप्त होते है जो अतिरिक्त आय देते हैं।

जलाशयों का निर्माण करके वर्षा जल को रोकना होगाः

धरती की सतह पर जलाशयों का होना बहुत अधिक जरूरी है क्योंकि जलाशय जहाँ वर्षा के जल को धारण करके भूगर्भ जल स्तर को ऊँचा उठाने का काम करते है वहीं हमारी पानी की जरूरतों को भी पूर्ण करते है। धरती के पाँच प्रतिशत भू–भाग पर जलाशय होने पर खेतों में बोयी गयी फसलों को बार–बार सिंचाई के लिए पानी लगाने की जरूरत नहीं पड़ती है तथा जलाशयों के पानी से प्रकृति के नाना प्रकार के जीव–जन्तु, पशु–पक्षी अपनी प्यास भी बुझाते हैं। जलाशयों में मछली पालन का कार्य करके अतिरिक्त आय भी प्राप्त की जा सकती है

जबकि आज कृषि का मतलब यह है किः

कैसे अमुख खेत से 60 कुंतल प्रति हेक्टेयर गेंहूँ की उपज ली जाए? भूमि की क्षमता कितना गेंहूँ पैदा करने की है इस बात से किसी को कोई लेना देना नहीं है। किसान बीज भंडार से 60 कुंतल प्रति हेक्टेयर पैदावार देने वाली प्रजाति का बीज खरीदकर लाता है एवं मिट्‌टी की जाँच कराकर फसल में उतना रसायनिक उर्वरक प्रयोग करता है जितने की संस्तुत की गयी है। पाँच बार गेंहूँ की फसल में पानी लगाता है। खरपतवार नष्ट करने के लिए खरपतवार नाशी रसायन का प्रयोग भी करता है। फिर भी गेंहूँ की पैदावार मात्र 30 से 40 कुंतल ही मिलती है। आज देश में गेंहूँ की प्रजातियाँ 50 कुंतल प्रति हेक्टेयर से अधिक क्षमता की है और देश का प्रत्येक किसान उन्नत बीज का ही प्रयोग करता है परन्तु देश में गेंहूँ की औसत पैदावार 35 कुंतल से अधिक नहीं है।

निष्कर्ष :

किसी भी फसल के उत्पादन में भूमि की उर्वरता का बहुत अधिक महत्व होता है। धरती की वह ऊपरी सतह जिस पर हम खेती करते है उसे भूमि कहते है। भूमि के निर्माण में सूक्ष्म जीवों एवं सूक्ष्म वनस्पतियों का योगदान किसी से छिपा नहीं है। जलवायु का मतलब जलाशयों एवं पेड़ों से है अच्छी जलवायु बनाये रखने के लिए गाँव में पर्याप्त जलाशय एवं पेड़ों का होना जरूरी है। पिछले सत्तर वर्ष पूर्व तक फसलों के उत्पादन में किसी भी प्रकार

के रसायनों का कोई प्रयोग नहीं हुआ करता था क्योंकि हमारे पूर्वज प्रकृति की व्यवस्था को समझते थे एवं उसके साथ मिलकर जीते थे।ऐसा नहीं है कि रसायनों के अत्यधिक प्रयोग से सिर्फ फसलों की उत्पादन लागत बढ़ती है। अपितु लगातार रसायनों के बढ़ते प्रयोग से भूमि की जल धारण क्षमता में कमी आ चुकी है और फसलों को बार–बार पानी लगाने की जरूरत पड़ती है जिसके कारण भूगर्भ जल का दोहन बढ़ता जा रहा है। भूमि की ऊपरी सतह बहुत अधिक कठोर हो चुकी है और भूमि की गहरी जुताई नहीं हो पाती है। भूमि में पर्याप्त वायु संचार न हो पाने के कारण पौधों का सामान्य विकास नहीं हो पाता है। रसायनिक उर्वरकों के युग में किसान देशी खादों का प्रयोग भूल चुका है। धरती पर बोई जाने वाली अथवा स्वयं से अंकुरित हो जाने वाली प्रत्येक वनस्पति के सम्पूर्ण विकास में पाँच प्रतिशत भाग धरती की कोख से मिलता है जबकि 85 प्रतिशत भाग जलवायु से प्राप्त होता है। 5 प्रतिशत धरती से मिलने वाले भाग का नाम ह्यूमस होता है जिसे हम जीवांश कार्बन के नाम से जानते है।

मानव जीवन में तृष्णा और लालसा है, और ये दुःख के मूल कारण है।

*****

आत्मा अपने स्वरूप में एक है, लेकिन उसके अस्तित्व अनेक है।

*****

उठो, जागो और तब तक मत रूको जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाये।

*****

तुम्हें कोई पढ़ा नहीं सकता, कोई आध्यात्मिक नहीं बना सकता। तुमको सब कुछ अंदर से सीखना है। आत्मा से अच्छा कोई शिक्षक नहीं है।

*****

ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ पहले से हमारी है। वो हम ही है जो आँखों पर हाथ रख लेते है और फिर रोते है कि कितना अंधकार है।

*****

विश्व एक विशाल व्यायामशाला है जहाँ हम खुद को मजबूत बनाने के लिए आते है।

*****

शक्ति जीवन है, निर्बलता मृत्यु है। विस्तार जीवन है, संकुचन मृत्यु है। प्रेम जीवन है, द्वेष मृत्यु है।

*****

किसी दिन, जब आपके सामने कोई समस्या न आये - आप सुनिश्चित हो सकते है कि आप गलत मार्ग पर चल रहे है।

*****

‘जब जक जीना, तब तक सीखना’ - अनुभव ही जगत में सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है।

संरक्षण खेती : वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिए वरदान

प्रदीप कुमार[1], हरपाल सिंह[1] एवं अमित तोमर[2]

सारांश : विश्व में भूमि क्षरण एक गंभीर पर्यावरणीय समस्या है जो कि हमारे पारिस्थितिकी तंत्र एवं खाद्य सुरक्षा के लिए एक खतरा है। भूमि क्षरण से मृदा का कटाव, पोषक तत्वों का दोहन, मृदा में कार्बनिक पदार्थों की कमी, मिट्टी की उत्पादन शक्ति में कमी, जैव विविधता में कमी, अनियमित भूजल स्तर, जलवायु परिवर्तन एवं आर्थिक नुकसान प्रमुख रुप से होता है। भारत में सभी प्रकार की जलवायु जैसे शीतोष्ण, सम शीतोष्ण, कटिबंधीय, उष्ण कटिबंधीय इत्यादि में खेती की जाती है। विश्व की जनसंख्या बढ़ने के साथ–साथ भूमि क्षरण की समस्याएँ भी बढ़ती रहेंगी जिसकी वजह से उपजाऊ मृदा एवं अनाज के लिए विभिन्न देशों के बीच खाद्य सुरक्षा के लिए प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी। इन समस्याओं से निपटने के लिये विश्व में भूमि क्षरण को रोकने तथा प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम/उचित उपयोग एवं तरीकों पर पिछले कई वर्षों से विकल्पों की तलाश जारी है। भूमि संसाधन का उपयोग एवं प्रबन्धन की विधियों पर मृदा की उत्पादन क्षमता निर्भर करती है। मृदा में कार्बनिक पदार्थों का प्रबन्धन अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मृदा संरचना के स्थिरीकरण के लिए आवश्यक है। सघन कृषि के अन्तर्गत खेतों की लम्बे समय तक जुताई करने से अधोसतह में एक मजबूत परत (क्रस्ट) बन जाती है जिससे मृदा संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

परिचय :

वर्तमान समय में जलवायु परिवर्तन की वजह से असमय वर्षा, अनियमित वर्षा जल का वितरण, मार्च महीने में तापमान का एकाएक से बढ़ना (सीमान्त हीट), ओलावृष्टि, अतिवृष्टि, कीट व बीमारियों का प्रकोप इत्यादि जैसी कई गंभीर समस्याएं पूरे विश्व के सामने चुनौती खड़ी हैं। भारत के अधिकांश हिस्सों में भू–जलस्तर वर्ष दर वर्ष नीचे जाता जा रहा है जो कि एक चिंता का विषय बना हुआ है फिर भी भू–जल का दोहन ज्यों का त्यों बना हुआ है। कई राज्यों में भू–जलस्तर खतरे के निशान से नीचे जा चुका है फिर भी वहाँ ज्यादा पानी की मांग वाली फसलें जैसे धान, गन्ना इत्यादि की खेती निरन्तर की जा रही है जिससे हरियाणा, पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश भी अछूता नहीं है। हमें अपना भविष्य सुरक्षित रखने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के उचित प्रबन्धन के प्रति सजग होने की आवश्यकता है। आज इस प्रतिस्पर्धा के दौर में किसान अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने के लिए अपने खेतों में अंधाधुंध रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों का प्रयोग कर रहा है जिससे मिट्टी में पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्वों का संतुलन दिन प्रतिदिन बिगड़ता जा रहा है जिसके दूरगामी परिणाम आने वाली पीढ़ियों को भुगतने होंगे। जहाँ एक तरफ मृदा की घटती उत्पादन क्षमता की समस्या है वहीं दूसरी ओर बढ़ती जनसंख्या की वजह से खाद्यान्न सुरक्षा भी चिंता का विषय बनी हुई है। ऐसे समय में हमें ऐसी खेती की ओर ध्यान देना चाहिए जिससे प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग हो एवं मृदा का स्वास्थ्य बना रहे। ऐसे में संरक्षण खेती का नाम उभर कर हमारे सामने आता है।

संरक्षण खेती कृषि की वह पद्धति है जिसके अन्तर्गत संसाधन संरक्षण तकनीक की सहायता से टिकाऊ उत्पादन स्तर के साथ–साथ पर्यावरण संरक्षण को ध्यान में रखते हुये फसल उत्पादन लिया जाता है। संरक्षण खेती मृदा की ऊपरी व निचली सतह के अन्दर प्राकृतिक जैविक क्रियाओं को बढ़ाने पर आधारित है। संरक्षण खेती के तीनों सिद्धान्तोंः न्यूनतम जुताई, स्थायी रूप से मिट्टी को आच्छादित करना तथा फसल विविधीकरण को अपनाकर ही फसल उत्पादन के स्तर को टिकाऊ बनाया जा सकता है। संरक्षण खेती प्रणाली में उपलब्ध संसाधनों का उचित उपयोग एवं संरक्षण करते हुये, किसी स्थान की भौतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के अनुसार टिकाऊ फसल उत्पादन लेने के लिए नये–नये तरीके अपनाये जाते हैं।

(क) खेत की सतह की न्यूनतम जुताई : कार्बनिक पदार्थ मृदा का महत्वपूर्ण अवयव है क्योंकि यह फसलों को पोषक तत्व प्रदान करता है तथा मृदा संरचना के स्थिरीकरण में मदद करता है एवं लाभदायक जीवाणुओं की संख्या बढ़ाता है। निरंतर जुताई करने से मृदा में उपस्थित कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीकरण बढ़ता है जिससे मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों की कमी हो जाती है और मृदा की उर्वरा शक्ति एवं उत्पादन क्षमता में कमी आ जाती है। भूपरिष्करण यंत्र जैसे हैरो, कल्टीवेटर, रोटावेटर इत्यादि मिट्टी की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में परिवर्तन लाते हैं जिससे

[1]*बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी–284001*
[2]*रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी–284003*

मृदा क्षरण को बढ़ावा मिलता है। अतः संरक्षण खेती में मिट्टी की न्यूनतम जुताई को अपनाकर कर ईंधन एवं मानव श्रम दोनों की बचत की जा सकती है।

(ख) स्थायी रूप से मृदा सतह पर फसल अवशेष बनाये रखना : संरक्षण खेती में न्यूनतम जुताई की जाती है जिससे फसल अवशेष मृदा की सतह पर बने रहते हैं। यह आवरण मृदा को वर्षा, धूप इत्यादि के हानिकारक प्रभावों से रक्षा करता है जिससे मृदा क्षरण बहुत कम हो जाता है। मृदा में फसल अवशेषों के जमाव से सूक्ष्मजीवों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मृदा पर फसल अवशेष आवरण की वजह से मृदा सतह पर सूक्ष्म वातावरण (माइक्रोक्लाईमेट) जीवाणुओं, शैवालों, कवकों एवं केंचुओं के अनुरूप हो जाता है जिससे उनकी संख्या में काफी बढ़ोतरी होती है एवं जैव भार में वृद्धि हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप फसल अवशेषों का विघटन होता है और एक अच्छी ह्यूमस तैयार हो जाती है। ह्यूमस मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों को बढ़ाती है, साथ ही साथ फसल के लिए उपयुक्त वातावरण और पोषण प्रदान करती है। मृदा गुणवत्ता में सुधार से सूक्ष्मजीव विविधता में वृद्धि होती है जिससे फसलों पर कीटों एवं बीमारियों का प्रकोप कम होता है। इस खेती की प्रणाली में पानी का रिसाव बढ़ जाता है जिसकी वजह से पानी का सतही अपवाह बहुत हद तक कम हो जाता है जो कि मृदा क्षरण को कम करके भूजल संसाधनों को बढ़ाने में सहायक है। संरक्षण खेती में केंचुए और पौधों की जड़े जैविक जुताई का काम करते हैं जिससे कार्बनिक पदार्थ एवं पोषक तत्वों का पुनर्चक्ररण (रिसाइकलिंग) अच्छा होता है।

(ग) टिकाऊ तथा लाभदायक फसल प्रणाली : खेत में फसलों को अदल बदल कर लगाने से मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ एवं जीवाणुओं की संख्या में बढ़ोत्तरी होती है जिसके फलस्वरूप फसल को पोषक तत्वों की उपलब्धता बढ़ती है। फसल विविधिकरण मिट्टी की उर्वरता बनाए रखता है तथा फसल सम्बंधित कीटों एवं रोगों के रोगजनक प्रभाव को रोकता है। इसको अपनाने से पानी, पोषक तत्वों, कार्बनिक पदार्थों इत्यादि का मृदा प्रोफाइल में बेहतर वितरण होता है जिसका परिणाम मिट्टी की उर्वरा शक्ति पर सीधा पड़ता है। संरक्षण खेती के सिद्धांतों को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए कई संसाधन संरक्षण तकनीकें अपनायी जाती हैं। जैसे लेजर लेवलर, बैड प्लान्टर, हैप्पी सीडर/टर्बो सीडर से शून्य जुताई, बूंद–बूंद सिंचाई आदि जिससे फसल संसाधनों का प्रबंधन सुचारू रूप से किया जा सके। ये सभी तकनीकें संसाधानों की कुशलता बढ़ाती हैं। विश्व में संरक्षण खेती का दायरा संरक्षण खेती को विश्व की सभी प्रकार की जलवायु जैसे शीतोष्ण, सम शीतोष्ण, कटिबंधीय, उष्ण कटिबंधीय इत्यादि में अपनाया जा सकता है। इसको समुद्र तल से 3000 मीटर की ऊंचाई (बोलिविया) तक और 250–3000 मिलिमीटर (चिली) वर्षा वाले क्षेत्रों तक आसानी से अपनाया जा सकता है। ब्राजील में मृदा कटाव को रोकने के लिए संरक्षण खेती पर वर्ष 1962 में कार्य शुरू किया गया था। न्यूनतम/जीरो टिलेज, मिट्टी की सतह पर फसल अवशेष को कायम रखना तथा उचित फसल चक्र अपनाकर विश्व के कई स्थानों पर संरक्षण खेती लगभग 40 वर्षों पूर्व से अपनायी जा रही है। पूर्ण रुप से (सभी तीन सिद्धान्तों पर आधारित) संरक्षण खेती की तकनीक को अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेटीना, ब्राजील इत्यादि ने बड़े स्तर पर अपनी परिस्थितियों एवं क्षमताओं के अनुसार अपनाया है। संरक्षण खेती विश्व में कुल कृषि योग्य भूमि के लगभग 8.5 प्रतिशत क्षेत्रफल में होती है। जोकि लगभग 124 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र है जिसका 90 प्रतिशत क्षेत्र अर्जेटीना, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कनाडा तथा अमेरिका में स्थित है। भारत के सिंधु–गंगा के मैदानों या उत्तर पश्चिमी इलाकों में पिछले 15 वर्षों से इस क्षेत्र में काम किया जा रहा है और अब तक लगभग 2 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र इसके अर्न्तगत आ चुका है। एशिया महाद्वीप के अर्न्तगत 3 मिलियन हैक्टेयर क्षेत्र है जिसमें इसका ज्यादातर क्षेत्र धान–गेहूँ प्रणाली के अन्तर्गत है। जिसके तहत पंजाब, हरियाणा एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र सम्मिलित हैं। आजकल इस तकनीक पर काम तीव्र गति से चल रहा है जिससे आने वाले समय में इसके क्षेत्र में बढ़ोत्तरी होने की अपार संभावनाएं नजर आती हैं। संरक्षण खेती के सभी सिद्धान्तों को अपनाकर हम आने वाले समय में विकराल रूप से खड़ी समस्याओं जैसेः खाद्य सुरक्षा, मृदा एवं जल संरक्षण, ग्रामीण आजीविका, जैव विविधता एवं जलवायु परिवर्तन से कुछ सीमा तक निजात पाने में सक्षम हो सकते हैं।

संरक्षण खेती के फायदे : किसी भी विशेष प्रक्षेत्र में फसलों, फसल प्रणालियों का प्रबंधन वहाँ पर उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों एवं प्रबंधन तकनीकियों के अनुसार करना आज के समय की जरुरत बन गयी है। नवीन तकनीकियों को व्यापक स्तर पर अपनाने के लिए एक बड़े नियोजित समूह को आकर्षित करने की जरूरत होती है। इसमें किसानों को जो वे कर रहे हैं और उनको क्या जरूरत है के बीच अन्तर को समझाने की आवश्यकता पड़ती है। संरक्षण खेती को वृहद स्तर पर लागू करने के लिए इससे मिलने वाले लाभों के प्रति जागरूकता बढ़ानी होगी। इससे मिलने वाले लाभ इस प्रकार हैंः

(क) आर्थिक फायदे : फसल सघनीकरण के कारण भूमि में मुख्य पोषक तत्वों जैसेः नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटाश, गंधक के साथ सूक्ष्म पोषक तत्वों जैसे जिंक, लोहा, मैंगनीज इत्यादि की कमी के कारण भूमि की उर्वरा शक्ति का गिरना, भू–जलस्तर में गिरावट, कृषि मजदूरों में कमी व कृषि आयातों की बढ़ती कीमतों की वजह से पारम्परिक खेती के अन्तर्गत उत्पादन खर्च में वृद्धि व शुद्ध मुनाफे में कमी हो रही है। जबकि दूसरी ओर संरक्षण खेती को अपनाकर पारम्परिक खेती की तुलना में 25–30 प्रतिशत तक समय, ईंधन व मजदूरी की बचत की जा सकती है। पारम्परिक खेती की मौजूदा कृषि पद्धतियों में मजदूरों की उपलब्धता दिन प्रतिदिन घटती जा रही है व इस पर होने वाले खर्च में भी निंरतर वृद्धि हो रही है। संरक्षण खेती में बुआई पर होने वाले खर्च को 5000 रुपये प्रति हैक्टेयर तक आसानी से कम किया जा सकता है।

(ख) मृदा में कार्बनिक पदार्थो की वृद्धि : संरक्षण खेती में मिट्टी को स्वस्थ तथा उसकी पैदावार बनाए रखने के लिए यह महत्वपूर्ण है कि मिट्टी की सतह पर फसल अवशेषों का पर्याप्त आवरण हो। मृदा में फसल अवशेष का स्थायी आवरण होने के कारण उसमें उपस्थित सूक्ष्म जीवों की जैविक गतिविधियां बढ़ जाती हैं जिससे मृदा में कार्बनिक पदार्थों की वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप फसल को समुचित मात्रा में पोषक तत्व प्राप्त होते हैं। कार्बनिक पदार्थ का मृदा के भौतिक गुणों जैसेः मृदा संरचना, जल धारण क्षमता, मृदा भार घनत्व, उर्वरक उपयोग क्षमता, मृदा समुच्चय, मृदा पारगम्यता दर, पोषक तत्व प्रतिधारण (रिटेंशन) को फसल के जड़ीय क्षेत्र (राइजोस्फियर) में बढ़ाने में मुख्य भूमिका है। संरक्षण खेती के अन्दर किसान का मित्र कहे जाने वाले केंचुए की संख्या में वृद्धि होती है। फसलों की जड़ों एवं केंचुए द्वारा बनाये हुये छिद्रों में पानी एवं हवा का अनुपात (1:1) बना रहता है जिससे फसलों की वृद्धि एवं विकास ठीक ढंग से होता है।

(ग) प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं समुचित उपयोग : संरक्षण खेती प्रणाली को अपनाने से पर्यावरण एवं संसाधन दोनों का संरक्षण होता है। न्यूनतम जुताई, फसल अवशेष का स्थायी आवरण तथा फसल विविधीकरण अपनाने से मृदा एवं जल संसाधनों की गुणवत्ता और फसल की उत्पादक क्षमता बढ़ती है। फसल अवशेष जैव विविधता, जैविक गतिविधियों एवं वायुवीय गुणवता में बढ़ोत्तरी करते हैं। यह कार्बन को संचय (सिक्वेस्ट्रेशन) करने एवं मृदा तापमान को नियंत्रित करने में भी सहायक होती है। मृदा सतह पर उपस्थित फसल अवशेष मृदा सतह पर बहने वाले पानी (रन ऑफ) और हवा की गति को कम कर देते हैं जिससे मिट्टी के महीन कणों का उपरी सतह से विस्थापन एवं मृदा कार्बर्निक पदार्थों का क्षरण बहुत कम हो जाता है। फसल अवशेष मृदा सतह से पानी का वाष्पीकरण कम करने में सहायक होते हैं जिससे अधिक समय के लिए मृदा में नमी बनी रहती है।

(घ) पर्यावरणीय लाभ : फसल अवशेषों में बुआई करने वाली मशीनों के अभाव एवं किसानों के साफ–सुथरा खेत रखने की सोच के कारण सिंधु–गंगा के उत्तर–पश्चिमी मैदानी इलाकों में फसल अवशेषों से छुटकारा पाने के लिए फसल अवशेषों को पूरी तरह से जलाने का परम्परा बनी हुई है। धान के अवशेषों को जलाने से इनमें से जहरीली गैसें जैसेः कार्बन डाइऑक्साइड (Co), सल्फर डाइऑक्साइड (So), नाइट्रस ऑक्साइड (NO), कार्बन मोनोऑक्साइड (Co) आदि निकलती हैं जिनसे समूचा वातावरण प्रदूषित हो जाता है एवं मृदा के पोषक तत्वों तथा जैव पदार्थों को नुकसान होता है।

धान की पुआल के जलाने से कार्बन – लगभग 90–99 प्रतिशत, नाइट्रोजन – 80 प्रतिशत, फास्फोरस एवं पोटेशियम – 20 प्रतिशत तथा सल्फर – 50 प्रतिशत का नुकसान होता है। धान की पुआल में लगभग 50–55 प्रतिशत कार्बन, 0.62–0.68 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.20–0.23 प्रतिशत फास्फोरस एवं 0.78–1.15 प्रतिशत पोटेशियम होता हैं जो जलाने के उपरान्त नष्ट हो जाते हैं। धान की पुआल को जलाने पर उसमें उपस्थित कार्बन का 70, 7 एवं 0.7 प्रतिशत उत्सर्जन कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड एवं मिथेन के रुप में होता है जबकि कुल नाइट्रोजन टर्बो सीडर द्वारा धान के फसल अवशेषों में गेंहूँ की बुवाई का 2.1 प्रतिशत हिस्सा नाइट्रस ऑक्साइड के रुप में उत्सर्जित होता है। पूरे भारत में लगभग 92.81 मिलियन टन फसल अवशेषों को जला दिया जाता है जिससे काफी मात्रा में पौधों के लिए जरुरी पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं। पंजाब एवं हरियाणा में अनुमानतः 1.96 एवं 0.91 मिलियन टन फसल अवशेषों को प्रतिवर्ष जला दिया जाता है। संरक्षण खेती आधारित फसल प्रणालियों को अपनाकर पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है तथा साथ ही उपलब्ध संसाधनों को समुचित उपयोग में भी लाया जा सकता है। संरक्षण खेती में हैप्पी/टर्बो सीडर तथा रोटरी डिस्क ड्रिल की मदद से गेंहूँ को धान के अवशेषों के मध्य (10 टन फसल अवशेष भार के साथ) सफलतापूर्वक बोया जा सकता है।

(ङ) सीमान्त ताप (टर्मिनल हीट) : प्रभावित मृदा की सतह पर अवशेषों को रखने से मिट्टी में नमी का संरक्षण, खरपतवार नियंत्रण तथा मिट्टी की गुणवत्ता में सुधार होता है। अवशेषों को मिट्टी पर

बनाए रखने से न केवल मृदा सुधार होगा बल्कि सूक्ष्म वातावरण भी फसल के अनुकूल होगा। गेंहूँ की फसल में प्रकाश संशलेषण की दर 20–25 डिग्री सेल्सियस पर अधिकतम होती है तथा यह 30 डिग्री सेल्सियस के बाद तेजी से गिरने लगती है। गेंहूँ की फसल में मार्च के महीने में तापमान के 35 डिग्री सैल्सियस से अधिक होने पर इसका सीधा प्रभाव गेंहूँ की उत्पादकता पर पड़ता है जिसे हम सीमान्त ताप प्रभाव के नाम से जानते हैं। इस तापक्रम के बाद प्रत्येक डिग्री सैल्सियस की बढोत्तरी पर 4–5 प्रतिशत उपज में कमी आती है। संरक्षण आधारित खेती करने से सीमान्त ताप प्रभाव को नियंत्रित किया जा सकता है एवं इसकी वजह से गेंहूँ की फसल में होने वाले नुकसान को काफी हद तक कम किया जा सकता है। मृदा सतह पर उपस्थित फसल अवशेष तापमान को 1–3 डिग्री सेल्सियस तक कम करने में सक्षम होते हैं जिससे फसल के सूक्ष्म पर्यावरण में गेहूँ की जरुरत के अनुसार तापमान बना रहता है। फसल अवशेषों की वजह से कम होने वाला तापमान मृदा सतह पर उपस्थित अवशेष भार पर निर्भर करता है। सीमान्त ताप की वजह से समय पूर्व परिपक्वता के कारण गेहूँ के दाने सिकुड़ जाते है जिसकी वजह से कम उत्पादन प्राप्त होता है। दानों की गुणवत्ता एवं आकार खराब होने से अच्छे बाजार भाव नहीं मिलते हैं जिसकी वजह से किसान को भारी खामियाजा भुगतना पडता है।

संरक्षण खेती के लिए महत्वपूर्ण प्रबंधन तकनीकियाँ

(क) भूमि का लेजर समतलीकरण (लेजर लैंड लेवलिंग) : समान रूप से पानी का वितरण सुनिश्चित करने के लिए खेत को सावधानी पूर्वक समतल करना आवश्यक है। जिससे पानी की गहराई खेत में एक समान बनी रहे। समतल खेत में जल इकट्ठा नहीं हो पाता तथा उसकी निकासी भी आसानी से हो जाती है। समतलीकरण द्वारा पादप पोषक तत्वों का बेहतर उपयोग एवं उच्च जल उपयोगी क्षमता सुनिश्चित होती है। समतलीकरण के उद्देश्य को पूरा करने हेतु नवविकसित तकनीक लेजर लैण्ड लेवलर का प्रयोग अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है।संसाधन संरक्षण तकनीकियों से फसलों में उच्चतम् परिणाम तभी आते हैं जब किसान आवश्यकतानुसार (प्री सीजन) लेजर भूमि समतलीकरण के बाद खेती करता है। सतही सिंचाई क्षेत्रों में यह आवश्यक है कि सतह उपयुक्त रुप से समतल हो व उसमें उचित ढ़लान हो ताकि सिंचाई प्रक्रिया सुचारु हो। सतही सिंचित क्षेत्रों के समतलीकरण के लिए लेजर निर्देशित उपकरणों का उपयोग आर्थिक रुप से संभव हो गया है। इन सुविधाओं का किराये पर उपलब्ध होने की वजह से इनका प्रयोग छोटे किसान भी कर सकते है। लेजर भूमि समतलीकरण से क्षेत्र की असमानता 20 मिलीमीटर तक कम हो जाती है। परिणामतः सिंचित क्षेत्र में 2 प्रतिशत व फसल क्षेत्र में 3–4 प्रतिशत तक वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त जल प्रयोग व वितरण की दक्षता में 35 प्रतिशत तक सुधार होता है। लेजर समतलीकरण से सिंचाई जल उत्पादकता, उर्वरक उपयोग दक्षता एवं फसल पकाव में सुधार होता है व खरपतवार दबाव कम होता है। विभिन्न क्षेत्रों में इस तकनीकी का प्रसारण तेजी से हो रहा है जो इस तकनीक की स्वीकार्यता एवं वैधता को दर्शाता है।

(ख) बिना जुताई तथा फसल अवशेषों में बुवाई के लिए मशीनें : संरक्षण खेती करने के लिए ऐसी मशीनों की जरुरत होती है जो मृदा सतह पर फसल अवशेषों की उपस्थिति के बावजूद बुआई करने में कामयाब हों। फसल अवशेषों में अच्छी तरह से बुआई करने के लिए विभिन्न जीरो टिल मशीनों का उपयोग किया जाता है। जीरो–टिल मशीनों के बिना संरक्षण खेती के बारे में सोचना बेमानी है। टर्बो–सीडर, पी. सी. आर. प्लान्टर एवं रोटरी डिस्क ड्रिल 8–10 टन/हैक्टेयर की दर से उपस्थित खडे (एकड़) एवं बिखरे (लूज) फसल अवशेषों वाले खेत में सही ढंग से बुआई करने के लिए उपयुक्त है। खेत में फसल अवशेषों की मात्रा यदि 3–4 टन प्रति हैक्टेयर हो तो डबल डिस्क कोल्टर का प्रयोग किया जाता है। इन मशीनों में अलग–अलग फसलों की बुआई करने के लिए अलग–अलग झुकी/उर्ध्वाधर (इन्कलाईंड) प्लेटों का उपयोग किया जाता है जिससे दो कतारों के बीच की दूरी एवं पौधे से पौधे के बीच की दूरी को नियंत्रित किया जा सकता है। फसल अवशेषों को जलाने से रोकने व इसके वातावरण व भूमि पर होने वाले कुप्रभावों से बचने के लिये जीरो टिल पद्धति को नीतिगत स्तर पर ले जाना चाहिए।

(ग) बैड प्लान्टिंग : भूमि रुपान्तरण में परिवर्तन के रुप में बैड प्लान्टिंग को सिंचित परिस्थितिकी में संसाधन संरक्षण तकनीक के रुप में प्रयोग किया जा रहा है। बैड प्लान्टिंग का अर्थ है वह प्लान्टिंग सिस्टम जिसमें फसल को बैड्स पर लगाया जाता है व सिंचाई कूड़ों में दी जाती है। सिमिट ने एक स्थाई फरो सिंचित रेज्ड बैड प्लान्टिंग तकनीक विकसित की है। फरो सिंचित रेज्ड बैड प्लान्टिंग तकनीक ने किसानों में पकड हासिल की है क्योंकि यह 25–40 प्रतिशत जल, 25 प्रतिशत पोषक तत्व व 20–30 प्रतिशत बीज बचाती है। इसके अतिरिक्त खरपतवार नियंत्रण अधिक होता है, फसल का गिरना, कीटों एवं खरपतवारों का

संक्रमण समतल प्लान्टिंग की तुलना में कम होता है। इन सबके अतिरिक्त यह प्लान्टिंग विधि जड़ वातावरण में बदलाव लाती है और जड़ क्षेत्र में वायु संचार को सुधारती है। संरक्षण खेती में इन बैड्स को स्थायी बैड्स में बदल दिया गया है ओर जुताई के कार्यक्रम को एकल कार्य तक सीमित कर दिया है, जिसमें बुवाई, सफाई व फरो को रिशेपिंग एक साथ ही करते है। वर्षा आधारित क्षेत्रों में बैड प्लान्टिंग में फसल लगाने पर फसलों की उपज में वृद्धि होती है जबकि सिंचित क्षेत्रों में उपज लगभग बराबर होती है।

(घ) धान की सीधी बुवाई में खरपतवार नियंत्रण : धान की परंपरागत खेती में मुख्य रूप से खरपतवार की वृद्धि को कम करने के लिए लगभग 5 से 7 सेंटीमीटर की गहराई का सिंचाई जल भराव किया जाता है। धान की सीधी बुवाई पद्धति के द्वारा बीजों को सीधे खेतों में बोया जाता है जिस कारण खरपतवारों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। धान की सीधी बुवाई वाले खेतों में खरपतवारों की संख्या, सघनता एवं विविधता पारंपरिक प्रतिरोपित (कद्दू) धान से काफी अलग होती है अतः उनके नियंत्रण पर विशेष ध्यान देने की जरुरत है। यह अंतर मृदा में नमी के स्तर में अंतर के कारण पाया जाता है। घास की किस्म जैसे सांवक (*इकाइनोक्लोआ क्रुसगल्ली*), छोटा सांवक (*इकाइनोक्लोआ कोलोनम*), मकड़ा (*ड़कटाईलोक्टिनियम अजिपसियम*), मुटमुर (*इराग्रोस्टिस जेपोनिका*), भोयली (*लेप्टोक्लोआ चाइनेसिस*), बनसा (*पैनिकम* प्रजाती) तथा मोथाधड़िल्ला (*साइप्रस* प्रजाती) आदि सीधी बुवाई वाले क्षेत्रों में मुख्य रूप से पायी जाती है जबकि पारंपरिक प्रतिरोपित धान में मुख्य रूप से सांवक, छोटा सांवक एवं मोथा का अधिक प्रभुत्व होता हैं।धान की फसल में होने वाले मुख्य खरपतवार सीधी बुवाई वाले धान में शस्य क्रियाओं तथा रासायनिक विधियों के समन्वय से खरपतवारों का प्रभावी ढंग से नियन्त्रण किया जा सकता है जोकि इस प्रकार हैः

(क) स्टेल बीजशैया तकनीक : इस तकनीक का प्रयोग धान की सीधी बुवाई वाले क्षेत्रों में खरपतवार को कम करने के लिए किया जाता है। इस विधि में धान की बुवाई के एक महीने पहले एक या दो सिंचाई देकर खरपतवार के बीजों को उगने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और उसके बाद गैर चयनात्मक शाकनांशी राउंडअप या ग्लायसेल (41 प्रतिशत गलाइफॉसेट) 15—20 मिलीलीटर प्रति लीटर पानी या मेरा—71 (71 प्रतिशत गलाइफॉसेट) 6—10 ग्राम प्रति लीटर पानी का छिड़काव बुवाई के 5—7 दिन पहले करके मार दिया जाता है। इस विधि से पिछले सत्र के स्वयंसेवक धान (वोल्यूंटर राइस) एवं जंगली धान को भी नियंत्रित किया जा सकता है।

(ख) जमीन की सतह पर फसल अवशेष रखकर (मल्चिंग) : जमीन की सतह पर फसल अवशेष छोड़ने से उगने वाले खरपतवारों को भौतिक बाधा उत्पन्न होती है। जीरो टिलेज विधि (फसल अवशेषों के साथ) खरपतवारों के बीजों को खाने वाले परभक्षियों की मात्रा को बढ़ावा देती है जोकि खरपतवार के बीज भंड़ार को कम करने में सहायक होते हैं। धान के फसल अवशेष गेंहूँ की फसल में मंडुसी (*फेलेरिस माइनर*) के अंकुरण एवं वृद्धि को रोकते हैं।

(ग) रासायनिक नियन्त्रण : बुआई पूर्व (जीरो टिलेज विधि से धान की सीधी बुवाई वाली स्थिति में) खेत में उपलब्ध बहुवर्षीय खरपतवारों को नष्ट करने के लिए बुवाई से पहले हल्की सिंचाई करने से शेष खरपतवार के बीजों का अंकुरण भी हो जाता है तथा पुरानें खरपतवारों की वृद्धि शुरु हो जाती है। इन खरपतवारों को नष्ट करने के लिए गैर चयनात्मक शाकनाशियों का प्रयोग बुवाई से 8—10 दिन पहले करना चाहिए। जीरो टिलेज तकनीकी से धान कि सीधी बुवाई वाली स्थिति में जमे हुये खरपतवारों को नष्ट करने के लिए राउंडअप या ग्लायसेल (41 प्रतिशत गलाइफॉसेट) 15—20 मिलीलीटर प्रति लीटर पानी या मेरा—71 (71 प्रतिशत गलाइफॉसेट) 6—10 ग्राम प्रति लीटर पानी में प्रयोग करें।

फसल बुआई के बाद व अंकुरण से पहले शाकनाशीयों का प्रयोग : धान के खेत में उगने वाले सभी प्रकार (घास एवं चौडी पत्ती वाले खरपतवार) के खरपतवारों को नष्ट करने के लिए बुआई से लेकर 3 दिन के भीतर स्टोंप (पैन्डिमीथेलीन 30 प्रतिशत) 3300 मिलीलीटर प्रति हैक्टेयर (1.0 किलोग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर) या स्टोंप एक्सट्रा (पैन्डिमीथेलीन 38.70 प्रतिशत) 2580 मिलीलीटर प्रति हैक्टेयर (1.0 किलोग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर) अथवा टोप स्टार (आग्जाड़ाइरजिल 80 प्रतिशत डब्ल्यू. पी.) 112.5 ग्राम प्रति हैक्टेयर (90 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर) की दर से छिडकाव करें। अंकुरण के बाद शाकनाशीयों का प्रयोगः— सभी प्रकार की घासों, चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों एवं मोथे को नष्ट करने के लिए बुवाई के 15—25 दिन के भीतर नोमिनिगोल्ड या अड़ोरा (बिसपाइरिबेक) की 250 मिलीलीटर प्रति हैक्टेयर (25 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर) को 300—375 लीटर पानी में घोलकर प्रति हैक्टेयर की दर से छिड़काव करें। फिनोक्साप्रोप की 60 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर की दर से बुवाई के 15—21 दिन के भीतर छिड़काव करना लेप्टोक्लोआ, घासों, चौडी पत्ती वाले खरपतवारों एवं मोथे के नियन्त्रण में प्रभावकारी पाया गया है। पेनोक्सुलाम का बुवाई के 15 दिन बाद 300—375 लीटर पानी में घोलकर (20 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति

हैक्टेयर) छिड़काव करने से सभी खरपतवारों को नियन्त्रित कर सकते हैं। फसल पर शाकनाशीयों को छिड़कने की दर फसल की अवस्था, खरपतवार घनत्व, मृदा आद्रता, स्प्रे नोजल एवं उपस्थित मौसम आदि पर निर्भर करता है।शाकनाशीयों का प्रयोग खरपतवारों के प्रकार एवं उनकी संख्या तथा फसल की शाकनाशी के साथ चयनात्मकता के आधार पर किया जाता है। शाकनाशीयों को मिलाकर छिडकने से खेत में उगे हुऐ सभी प्रकार के मिश्रित खरपतवारों (घासे, चौड़ी पत्ती खरपतवार एवं मोथे) का नियन्त्रण आसानी से किया जा सकता है। बिसपाइरिबेक संग अजीमसलफुरॉन का 250 मिलीलीटर 250 ग्राम प्रति हैक्टेयर (25 एवं 17.5 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हैक्टेयर) की दर से 300–375 लीटर पानी में घोलकर बुवाई के 15–20 दिन बाद छिड़काव करने से घासों एवं चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के अलावा मोथा पूरी तरह नियन्त्रित हो जाता है। फिनोक्साप्रोप का इथोक्सिसलफुरॉन के साथ छिड़काव करने पर भी घासों, चौडी पत्ती वाले खरपतवारों एवं मोथे का नियन्त्रण किया जा सकता है। शाकनाशीयों के प्रयोग करते समय खेत में प्रर्याप्त नमी होना आवश्यक है।

(ङ) फसल विविधीकरण एवं टिकाऊ फसल प्रणालियाँ : धान–गेहूँ फसल चक्र में मूंग को शामिल करके फसल प्रणाली उत्पादकता के साथ–साथ भूमि की उर्वरा शक्ति एवं खरपतवार नियंत्रण दक्षता को भी बढ़ाया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर धान के स्थान पर मक्का को लगाने से घटते भू–जलस्तर एवं मजदूरों की कमी जैसी समस्याओं से निजात पायी जा सकती है। धान–गेहूँ की स्थापन विधि में बदलाव करके धान में प्रत्यारोपित करके रोपाई करने की बजाय धान की सीधी बिजाई एक लाभकारी विकल्प हो सकता है। धान आधारित फसल चक्र को अधिक लाभकारी बनाने के लिये कम अवधि के धान के बाद आलू व मक्का या सूरजमुखी को शामिल किया जा सकता है। सिंधु–गंगा के मैदानी इलाकों में धान–गेहूँ फसल प्रणाली का अन्य फसलों के साथ सघनीकरण करने से पारम्परिक धान–गेहूँ फसल चक्र की अपेक्षा अधिक उत्पादकता व शुद्ध लाभ प्राप्त किया जा सकता है। गन्ने की फसल को अक्तूबर माह में अन्तःवर्तीय फसलों (गेंहूँ, सरसों, प्याज, लहसुन, धनियां व अन्य दलहनी व तिलहनी फसलें इत्यादि) के साथ सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। ऐसा करने से गन्ने के उत्पादन के अलावा अंतःवर्तीय फसलों से अतिरिक्त आय भी प्राप्त हो जाती है। अतः गन्ने के साथ अंतःवर्तीय फसलें उगाकर दोहरा लाभ प्राप्त करके गन्ना आधारित फसल चक्रों को अधिक टिकाऊ बनाया जा सकता है।

निष्कर्ष : कृषि फसलें उगाने से वायुमण्डलीय कार्बन का स्थिरीकरण किया जाता है जो मिट्टी में कार्बन को भंडारण करने की क्षमता पर निर्भर करता है। इस प्रक्रिया को कार्बन भंडारण के रूप में जाना जाता है। भूमि कृषि प्रबंधन प्रथाओं के आधार पर कार्बन डाईऑक्साइड के लिए एक भंडार कक्ष हो सकता है जिसको संरक्षित खेती के तरीके से पूर्ण किया जा सकता है। संरक्षित खेती के तरीकों को अपनाकर हम हरितगृह गैस उत्सर्जन कम करने के अलावा पानी, मिट्टी और हवा की गुणवत्ता को भी बढ़ा सकते है। जलवायु परितर्वन के विपरीत प्रभाव को कम करने के लिए संरक्षित खेती आधारित क्रियाएं एक समाधान का हिस्सा हो सकती है। इसके लिए सीजीआईएआर के जलवायु परिवर्तन कृषि एवं खाद्य सुरक्षा तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के जलवायु अनुरूप कृषि पर राष्ट्रीय पहल अनुसंधान कार्यक्रम के तहत् भारत में क्लाईमेट स्मार्ट गाँव बनाने पर कार्य किया जा रहा है। जलवायु परिवर्तन के प्रभाव को कम करने के लिए जल स्मार्ट, न्यूट्रिएंट स्मार्ट, कार्बन स्मार्ट, उर्जा स्मार्ट, मौसम स्मार्ट एवं ज्ञान स्मार्ट आदि तकनीकियों पर कार्य किया जा रहा है। भारत देश का हरियाणा राज्य क्लाईमेट स्मार्ट खेती परियोजना पर शोध कार्य करने में अग्रणी स्थान रखता है तथा इसके तहत करनाल जिले के अन्दर कई गाँवों में इस पर कार्य किया जा रहा है तथा भविष्य में इनके अच्छे एवं दूरगामी परिणाम आने की संभावना है जो हमें एक नयी राह दिखायेंगे। जल स्मार्ट तकनीक के तहत धान की सीधी बिजाई, मक्का आधारित फसल चक्र, बैड प्लान्टिगं, जरूरत के अनुसार भूमि का समतलीकरण, धान में वैकल्पिक जल प्रबंधन, जीरो टिलेज व सूक्ष्म सिंचाई आदि तकनीकियां अपनायी जाती है। न्यूट्रिएंट स्मार्ट में प्रक्षेत्र विशेष पादप पोषक तत्व प्रबंधन, मक्का और गेंहूँ के लिए न्यूट्रिएंट एक्सपर्ट, ग्रीन सीकर व फसल चक्र में दलहनों का समन्वय आदि तकनीकियाँ को अपनाया जाता है। कार्बन स्मार्ट के अन्तर्गत जीरो टिलेज एवं फसल अवशेष प्रबंधन को बढावा दिया जाता है। ऊर्जा स्मार्ट में भी जीरो टिलेज, फसल अवशेष प्रबंधन तथा धान की सीधी बिजाई को अपनाया जाता है। मौसम स्मार्ट तकनीक में मौसम का पूर्वानुमान, सूचकांक आधारित बीमा, जरूरतों के अनुसार बीज, फसल विविधीकरण व कृषि वानिकी को लागू करने पर बल दिया जा रहा है। ज्ञान स्मार्ट में सूचना एवं प्रसारण तकनीकियां, महिला सशक्तिकरण व क्षमता विकास मुख्य तकनीकियाँ हैं। इन सभी तकनीकियों के उपयोग से बदलते वातावरण में प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के साथ–साथ खाद्य सुरक्षा के लिए भी गाँवों को सक्षम बनाया जा रहा है।

लवण प्रभावित मृदाओं के सुधार हेतु पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु : एक विकल्प

प्रियंका चंद्रा, कैलाश प्रजापत, अवतार सिंह, पूजा वर्मा एवं आर.के. यादव

सारांश : कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, अतः कृषि को देश की आधारशिला कहा जाता है। भारत की 70 प्रतिशत जनसंख्या आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है। भारत के कुल क्षेत्रफल के लगभग 51 प्रतिशत भाग (143 मिलियन हेक्टेयर) पर कृषि कार्य होता है। भारतीय शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्रों में कृषि के लिए मृदा लवणता एक गंभीर समस्या है। भारत के विभिन्न राज्यों जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पश्चिम बंगाल आदि में मृदा लवणता पायी जाती है। भारत में लवण प्रभावित मृदाओं का कुल क्षेत्रफल लगभग 6–7 मिलियन हेक्टेयर है जिसका लगभग 56 प्रतिशत क्षारीय तथा 44 प्रतिशत लवणीय है। लवण प्रभावित मृदा सामान्यतः दो तरह की होती है तथा इनको संतृप्त घोल की विद्युत चालकता, विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा एवं मृदा पी. एच. मान के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है : 1. लवणीय मृदा तथा सेम या लोनी, 2. क्षारीय मृदा तथा कल्लर या ऊसर।

परिचय :

लवणीय मृदाः इन मृदाओं का संतृप्त घोल की विद्युत चालकता 4 डेसी सीमन प्रति मीटर से अधिक होती है, तथा विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत तथा पी.एच. मान 8.2 से कम होता है। लवणीय मृदाओं में सोडियम, कैल्शियम तथा मेग्नीशियम एवं उनके क्लोराईड एवं सल्फेट अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। लवणीय मृदाओं में मौजूद ये अतिरिक्त लवण पानी में शीघ्र ही घुल जाते है तथा तापमान बढ़ने पर ये घुलनशील लवण मृदा की सतह पर आ जाते हैं और भूमि पर सफेद रंग की परत बना लेते हैं (चित्र–1)। घुलनशील लवणों की अत्याधिक मात्रा के कारण लवणीय मृदाओं में उच्च परासरणीय दबाब विकसित हो जाता है और पौधों को अपेक्षित जल उपलब्ध नहीं हो पाता है। जिसके कारण बीज का अंकुरण, पौधों का विकास एवं इनकी उत्पादन क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

चित्र–1 : लवणीय मृदा का परिदृश्य

क्षारीय मृदाः क्षारीय मृदाओं में सोडियम एवं कार्बोनेट और बाईकार्बोनेट लवणों की मात्रा अधिक होती है। इन मृदाओं के संतृप्त घोल की विद्युत चालकता 4 डेसी सीमन प्रति मीटर से कम, मृदा का पीएच मान 8.2 से ज्यादा तथा विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत से ज्यादा होती है। विनिमय योग्य सोडियम एवं पी.एच. मान की मात्रा अधिक होने से इन मृदाओं की भौतिक एवं रासायनिक संरचना खराब हो जाती है और भूमि खेती के योग्य नहीं रहती। क्षारीय मृदाओं में जलभराव की समस्या रहती है तथा सूखने पर इनमे गहरी दरारें पड़ जाती है (चित्र–2)।

चित्र–2 : क्षारीय मृदा का परिदृश्य

लवण का पौधों पर विपरीत प्रभाव :

- ❖ अत्यधिक घुलनशील लवणों की मात्रा के कारण बीज का अंकुरण नहीं हो पता है।
- ❖ लवणीय मृदाओं में उच्च परासरणीय दबाब होता है जिसके कारण पौधों के जल उपलब्ध नहीं हो पाता है तथा पौधों का विकास नहीं हो पाता है।

भा.कृ.अनु.प. –केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001

❖ भौतिक संरचना उपयुक्त नहीं होने के कारण भूमि में वायु एवं जल का संचार नहीं होता और उचित प्रकार से पौधों की जड़ों का विकास नहीं हो पाता है।

❖ भूमि के निचली सतह पर कैल्सियम कार्बोनेट की परत होने के कारण पौधों की जड़ें गहराई में नहीं जा पाती हैं।

❖ भूमि में जल भराव होने के कारण पौधों की जड़ें गल जाती हैं।

❖ भूमि का पी.एच. मान अधिक होने के कारण पोषक तत्वों की उपलब्धता कम हो जाती है।

क्षारीय एवं लवणीय मृदाओं के सुधार हेतु तकनीकियाँः लवणीय एवं क्षारीय मृदा सुधार हेतु यांत्रिक, रासायनिक, जैविक एवं शस्य विधियों की संस्तुति की जाती है। लवण प्रभावित भूमि के सुधार के लिए जल निकासी द्वारा लवण निक्षलन, जिप्सम, पाइराइट, लवण सहिष्णु प्रजातियों इत्यादि जैसे तकनीकों का उपयोग किया जाता है। हालाकि वैज्ञानिक मौजूदा विकल्प के अलावा नए–नए विकल्प तलाशने में लगे हुए हैं एवं पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु उनमें से एक है। अध्ययनों के आधार पर ये ज्ञात होता है कि ये सूक्ष्मजीव लवण प्रभावित भूमि में पौधों की सहनशीलता बढ़ाने में मदद करता है और साथ ही पौधों के विकास को बढ़ाने में सक्षम है। ये सूक्ष्मजीव पौधों में ऐसे रासानायिक तथा भौतिक परिवर्तन लाते हैं तथा पौधों को लवण से होने वाली क्षति से प्रतिरक्षित करता है।

पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु : पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु, मृदा के जीवित तंत्र है, ये पौधों की जड़ों से संलग्न मृदा में रहते है तथा पौधों की वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतः पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु पौधों की वृद्धि को बढ़ावा देते है एवं पोषक तत्वों जैसे नत्रजन, फास्फोरस, पोटेशियम और आवश्यक खनिजों की उपलब्धता को बढ़ाते है अथवा पौधों के हार्मोन के स्तर का संशोधन करते है। पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु निम्न प्रक्रियाओं से लवण प्रभावित भूमि में पौधों के विकास में लाभदायक है :

❖ लवण ग्रसित मृदाओं में पोषक तत्वों की उपलब्धता कम हो जाती है अतः पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु वायुमंडल में स्थित नत्रजन को अमोनिया एवं नाइट्रेट में परिवर्तित कर के पौधों को उपलब्ध कराते है।

❖ फास्फोरस सबसे महत्वपूर्ण पोषक तत्व है एवं पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु अनुपलब्ध, अघुलनशील रूप में स्थित फास्फोरस को पौधों के लिए उपलब्ध कराते है जिसको फास्फेट घोलक क्षमता कहते है। ये जीवाणु उपाचयन क्रिया के दौरान कार्बनिक अम्ल का स्त्राव करते है और अघुलनशील फास्फोरस को मोनोबेसिक और डायबेसिक आयनिक रूप में घुलनशील कर फास्फोरस उद्ग्रहण में सहायता करते हैं (चित्र–3)।

चित्र–3: पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु की फास्फेट घोलक क्षमता को दर्शाता हुआ

❖ पोटेशियम की कमी से पौधों की जड़ों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पता है, पौधे के विकास में कमी तथा बीजों का आकार छोटा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप फसलों की पैदावार कम होती है। पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु में पोटेशियम घोलक क्षमता भी होती है तथा ये कार्बनिक अम्लों का उत्पादन कर के पौधों को उपलब्ध कराते हैं।

❖ जिंक की घुलनशीलता मृदा के पीएच मान पर निर्भर करती है तथा अधिक पीएच मान की मृदाओं में पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु अपनी जिंक घोलक क्षमता से विभिन्न प्रकार के अमली का स्त्राव कर के मृदा के पीएच मान को कम कर जिंक को घुलनशील कर पौंधो को उपलब्ध कराते है (चित्र–4)।

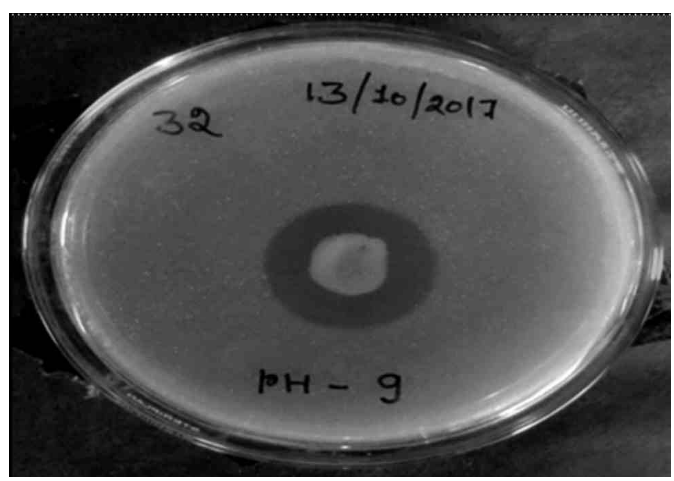

चित्र–4: जिंक घोलक जीवाणु द्वारा उत्पादित किया गया स्पष्ट प्रक्षेत्र

❖ पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु मृदाओं में इंडोल ऐसिटिक अम्ल का उत्पादन भी करता है। इंडोल ऐसिटिक अम्ल पौधों के विकास में अहम भूमिका निभाता है एवं कोशिका विभाजन कर जड़ों का विकास करता है साथ ही बीज अंकुरण के लिए वृद्धिवर्धक है। प्रकाश संश्लेषण, वर्णक गठन, और विभिन्न उपापचयी क्रियाओं में योगदान करता है।

❖ पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु सीडेरोफोर का उत्पादन करते हैं। सीडेरोफोर लोहे के साथ समष्टि कर कम आणविक वजन के मिश्रिण उत्पन्न करता है तथा कोशिकाओं से पौधों को स्थानांतरित करते है (चित्र–5)।

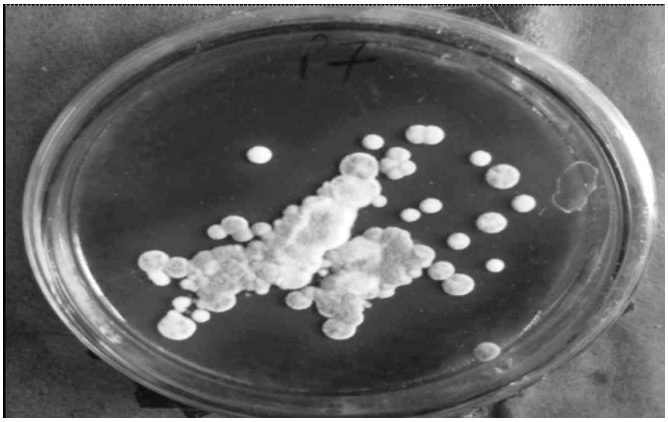

चित्र–5: पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु द्वारा सीडेरोफोर का उत्पादन

❖ पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु, विभिन्न प्रकार के शर्करा एवं बहुशर्करा का स्राव कर के पौधों की जड़ों के आसपास एक परत बनता है और लवणीय भूमि में मौजूद अत्यधिक सोडियम आयन को अवशोषित करता है। जिससे पौधों में इसके उद्ग्रहण में कमी आती है।

❖ लवणीय मृदाओं में उच्च परासरणीय दबाब होता है तथा पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु, विभिन्न प्रकार के ऑस्मोप्रोटेकटैंस का उत्पादन करते हैं तथा पौधों की कोशिकाओं में इसका संचय कर उच्च परासरणीय दवाब से बचाव होता है।

निष्कर्ष :

पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु में ऐसे सामर्थ्य होते है जिसके प्रयोग से लवण प्रभावित मृदाओं में इसके विपरीत असर को कम किया जा सकता है। ये पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु भूमि के भौतिक व जैविक गुणों में सुधार कर उसकी उर्वरा शक्ति को बढ़ाने में सहायक होते हैं। लवण प्रभावित मृदाओं इनका उपयोग रासायनिक एवं कार्बनिक खादों के साथ बेहतर समन्वय बनाकर उपयोग करना फायदेमंद हो सकता है। जिससे फसल उत्पादन को बढ़ावा मिलेगा तथा मृदा की उर्वरता बनी रहेगी। पादप वृद्धि संवर्धक जीवाणु विभिन्न तरह की प्रक्रियाओं द्वारा पौधों की वृद्धि एवं विकास को विविध पर्यावरण परिस्थितिओं में बढ़ाते है साथ ही मृदा पर सकारात्मक प्रभाव डालते है।

एक समय में एक काम करो, और ऐसा करते समय अपनी पूरी आत्मा उसमें डाल दो और बाकी सब भूल जाओ।

❋❊❋❊❋

जब तक आप खुद पर विश्वास नहीं करते तब तक आप भगवान पर विश्वास नहीं कर सकते।

❋❊❋❊❋

चिंतन करो, चिंता नहीं, नए विचारों को जन्म दो।

❋❊❋❊❋

हम वो है जो हमे हमारी सोच ने बनाया है, इसलिए इस बात का ध्यान रखिये कि आप क्या सोचते है। शब्द गौण है। विचार रहते है, वे दूर तक यात्रा करते है।

❋❊❋❊❋

जैसा तुम सोचते हो, वैसे ही बन जाओगे। खुद को निर्बल मानोगे तो निर्बल और सबल मानोगे तो सबल बन जाओगे।

आलू उत्पादन की उन्नत तकनीकें

शिव प्रताप सिंह, सुभाष कटारे एवं मुरलीधर जे. सदावर्ती

सारांश : विश्व की 17 प्रतिशत जनसंख्या, 2.4 प्रतिशत जमीन व 4 प्रतिशत जल भारत में है। मध्य प्रदेश की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से अधिक लोगों का जीवन यापन कृषि पर निर्भर है। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश (33 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (24 प्रतिशत) एवं बिहार (15 प्रतिशत) के पश्चात् चौथा सबसे बड़ा आलू उत्पादक राज्य है। इस राज्य की आलू उत्पादन में उत्पादकता वर्ष 2013–14 में 21 मेट्रिक टन थी। आलू के कुल उत्पादन लागत का 40–60 प्रतिशत अकेले उत्तम गुणवत्ता के बीज पर ही होता है। भारत में आलू का उत्पादन लगभग 2 मिलियन हे. में किया जाता है। कुल उत्पादन 40.30 मिलियन टन व उत्पादकता 21.97 टन प्रति हे. है।

परिचय :

भविष्य में आलू में सब्जी से आगे बढ़कर खाद्य सुरक्षा विकल्प के रूप में देखा जाता है। नकदी फसल होने से ज्यादा आमदनी प्राप्त की जा सकती है। प्रति इकाई क्षेत्र व समय के हिसाब से खाने योग्य शुष्क पदार्थ व प्रोटीन के उत्पादन की दृष्टि से आलू एक विशिष्ट फसल है जो कि अन्य प्रमुख फसलों से ज्यादा उत्पादन देती है आलू की फसल से 47.6 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रतिदिन शुष्क पदार्थ का उत्पादन होता है जिसकी तुलना में गेंहूँ, धान एवं मक्का से क्रमशः 18.1, 12.4 एवं 9.1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रतिदिन पैदा होता है। मानव उपभोग की दृष्टि से धान व गेंहूँ के बाद आलू तीसरी प्रमुख फसल है। अधिक शुष्क पदार्थ उत्पादन के अलावा आलू की बुआई व खुदाई के समय में भी अत्यधिक लचीलापन होता है जिसकी वजह से आलू की फसल विशिष्ठ हो जाती है जिसे विभिन्न फसल चक्रों के बीच में उगाकर फसल चक्र की उत्पादकता, लाभांश एवं फसल चक्र की स्थिरता को बढ़ाया जा सकता है। आलू के ताजा कंद में 80 प्रतिशत पानी तथा 20 प्रतिशत शुष्क पदार्थ (14 प्रतिशत स्टार्च, 2 प्रतिशत शर्करा, 2 प्रतिशत प्रोटीन, 0.1 प्रतिशत वसा, रेशे, विटामिन्स इत्यादि) होते हैं।

आलू उपयोग : यूरोप व उत्तरी अमेरिका में आलू मुख्य भोजन के रूप में उपयोग किया जाता है। विकासशील देशों में लगभग 66 प्रतिशत ताजे आलू का उपयोग सब्जियों के रूप में, 10 प्रतिशत बीज के रूप में, 8 प्रतिशत प्रसंस्करण में किया जाता है जबकि 16 प्रतिशत आलू बेकार चला जाता है।

आलू उत्पादन में मध्य प्रदेश का महत्व : भारत में आलू का कुल क्षेत्रफल 2.0 मिलियन हेक्टेयर, उत्पादकता 23 टन प्रति हेक्टेयर व कुल उत्पादन 48 मैट्रिक टन है। मध्य प्रदेश भारत के आलू उत्पादक क्षेत्रों में चौथें स्थान पर है। उन्नत कृषि अपनाने की वजह से पिछले 10 वर्षों में मध्य प्रदेश में आलू की उत्पादकता वर्ष 2010–11 में 12 टन प्रति हेक्टेयर से बढ़कर 2015–16 में 23.49 टन प्रति हेक्टेयर हो गयी। वर्ष 2018–19 में मध्य प्रदेश में आलू के अंतर्गत क्षेत्रफल 145 हजार हेक्टेयर, उत्पादन 3299 हजार टन तथा उत्पादकता 22.71 टन प्रति हेक्टेयर रही।

तालिका–1: मध्य प्रदेश में आलू का क्षेत्रफल, उत्पादन एवं उत्पादकता

वर्ष	क्षेत्रफल (हजार हेक्टेयर)	उत्पादन (हजार टन)	उत्पादकता (टन/हि.)
2010–11	62.0	743.0	12.0
2011–12	88.0	1816.7	20.6
2012–13	108.87	2299.0	21.1
2013–14	110.00	2322.0	21.1
2014–15	142.00	2706.17	19.06
2015–16	119.46	2807.09	23.49
2016–17	159.99	3460.98	21.63
2017–18	136.29	3144.64	23.07
2018–19	145.29	3299.65	22.71

भा.कृ.अनु.प.–केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान–क्षेत्रीय केन्द्र, ग्वालियर–474020 (म.प्र.)

महत्वपूर्ण उत्पादक जिले इन्दौर, उज्जैन, शाजापुर, छिन्दवाड़ा, सीधी, सतना, रीवा, सरगुजा, राजगढ़, सागर, दमोह, जबलपुर, पन्ना, मुरैना, छतरपुर, विदिशा, रतलाम, बैतूल एवं टीकमगढ़ हैं। महत्वपूर्ण प्रसंस्करण ईकाइयाँ जैसे पारले, आई.टी.सी., पैप्सी इत्यादि विशेष रूप से मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में कार्यरत हैं।

आलू की उपयुक्त प्रजातियाँ : केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान, शिमला के आलू किस्म विकास कार्यक्रम के संगठित प्रजनन प्रयासों से देश के विभिन्न कृषि जलवायुवीय क्षेत्रों में उत्पादन हेतु आलू की 51 किस्मों का विकास किया गया है। वर्तमान में 23 किस्मों का उत्पादन किया जा रहा है और ये किस्में भारत में आलू के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल के लगभग 95 प्रतिशत क्षेत्र में उगायी जाती हैं। इनमें से कुफरी ज्योति पश्चिम बंगाल के पहाड़ी क्षेत्रों में, कुफरी बादशाह गुजरात में, कुफरी बहार उ.प्र. में एवं कुफरी पुखराज भारत के मैदानों में प्रमुख है।

भोज्य उपयोग हेतु उपयुक्त किस्में: कुफरी पुखराज, कुफरी बहार, कुफरी चंद्रमुखी, कुफरी बादशाह, कुफरी सूर्या।

प्रसंस्करण हेतु उपयुक्त किस्में:

चिप्स हेतु उपयुक्त किस्में : कुफरी चिप्सोना–1, कुफरी चिप्सोना–3, कुफरी चिप्सोना–4, कुफरी ज्योति, कुफरी लवकार, लेडी रोजेटा, सेंटाना।

फ्रेंच फ्राई हेतु : कुफरी फ्राईसोना

खेत की तैयारी : खेत की उचित तैयारी मृदा प्रकार के अनुसार सावधानी पूर्वक करना चाहिये। बुवाई पूर्व जुताई क्रियाओं से उचित मृदा गहराई मिलने से न केवल आलू पौधे का अंकुरण तीव्र गति से होता है अपितु खरपतवार नष्ट होते हैं एवं फसल वृद्धि में सहायता प्राप्त होती है। खेत की मृदा बीमारी रहित होनी चाहिए। मृदा में अच्छा जल निकास व पी.एच. मान उदासीन से अम्लीय होना चाहिए। बलुई दोमट मृदा उत्तम रहती है। मृदा जनित बीमारियों, कीडों, खरपतवारों आदि के नियन्त्रण हेतु गर्मी में जुताई करनी चाहिए।

कार्बनिक खाद एवं हरी खादें : पोषकों के कार्बनिक स्रोतों का उपयोग जैसे कार्बनिक खाद एवं हरी खाद का क्षेत्रफल तेजी से कम हो रहा है। कार्बनिक खादें पोषकों का परंपरागत स्रोत है जो कि मृदा उर्वरता को बनाये रखने में सहायक होता है। अकार्बनिक खादों में गोबर की खाद एक मुख्य स्रोत है और यह स्थानीय कृषकों के पास आमतौर पर उपलब्ध रहता है। यह तुलनात्मक रूप से सस्ते मृदा सुधारक, नत्रजन समृद्ध, मृदा उर्वरता को बनाये रखने में सहायक एवं वातावरण के लिये सुरक्षित होते हैं। कार्बनिक खादों में पादप पोषक रासायनिक उर्वरकों की तुलना में निम्न मात्रा में पाये जाते हैं। वृद्धि हार्मोन व एंजाईमों की उपस्थिति इन्हें मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता में सुधार हेतु अनिवार्य बनाती है। इसके अतिरिक्त कार्बनिक खादें अकार्बनिक उर्वरकों की उपयोग दक्षता में सुधार हेतु सहायक होती हैं। कार्बनिक खादों के माध्यम से अनिवार्य सूक्ष्म पोषकों की प्राप्ति से पादप उपापचय क्रियाओं विशेषकर पौधों की आरम्भिक अवस्था में ओजपूर्ण वृद्धि में सहायता प्राप्त होती है। गोबर की खाद का 30 टन/हे. तक उपयोग करने पर आलू की उपज में वृद्धि, उर्वरकों की दक्षता तथा कन्द उपज में सार्थक रूप से वृद्धि करती है। ढैंचा (*सिस्बेनिया रोस्ट्रेटा*), सनई (*क्रोटोलेरिया जंसिया*), उड़द (*विग्ना मुंगो*), लोबिया (*विग्ना अनगुईकुलाटा*) एवं मूंग (*विग्ना रेडियेटा*) कुछ महत्वपूर्ण दलहनें जो कि हरी खाद के रूप में उपयोग किये जाते हैं एवं ये विभिन्न आलू आधारित फसल प्रणाली के लिये अनुकूल है। हरी खाद फसलों के लिए मृदा पी.एच. कम करने, मृदा उर्वरता बढ़ाने, जलधारण क्षमता एवं आलू की फसल में नत्रजन उर्वरक की आश्यकता को कम करने के लिये उगाया जा सकता है। हरी खाद खनिज उर्वरकें की दक्षता में वृद्धि करते हैं, अन्य पादप पोषकों की उपलब्धता में सहायता एवं मृदा कार्बनिक पदार्थ की मात्रा बढाने में सहायता करती हैं। आलू आधारित प्रणाली में आलू की खुदाई मार्च के प्रथम सप्ताह में कर ली जाती है इसलिये आलू की खुदाई के पश्चात् हरी खाद/ग्रीष्म फसलें ली जा सकती है। पशु खाद अथवा हरी खाद का समावेश करने से मृदा में नत्रजन प्राप्त होती हैं एवं मृदा के कार्बनिक पदार्थ में वृद्धि होती है। कार्बनिक पदार्थ जैसे हरी खाद, कम्पोस्ट अथवा पशु खाद में कार्बन एवं नत्रजन अनुपात होता है। जिससे यह 20–30 प्रतिशत आलू की फसल को प्रदान करते हैं एवं 40–60 प्रतिशत मृदा में संग्रहित हो जाता है। मृदा कार्बन में नत्रजन, फॉसफोरस, पोटाश एवं गोबर की खाद के संबद्ध प्रयोग से सभी जगहों पर सुधार हुआ है। आलू आधारित प्रणाली में मृदा कार्बन में 18 से 62 प्रतिशत तक सुधार रासायनिक उर्वरकों की तुलना में कार्बन स्रोतों से हुआ है। मृदा कार्बन एवं उत्पादकता में कार्बनिक एवं अकार्बनिक उर्वरकों के संयोजन से सुधार हुआ है।

बीज : स्वस्थ एवं अच्छी गुणवत्ता वाला बीमारी रहित आलू के बीज का उपयोग करना चाहिए। बुआई के लिए बीज में उचित चिटिंग के साथ स्प्राउट लगभग एक सेमी. लम्बा, हरा, अच्छा होना चाहिए। उचित बीज आकार एवं कंद 30–40 ग्राम का होना चाहिए।

बीज उपचार : आलू बीज उत्पादन हेतु उपयोग किये जाने वाले बीज को 3 प्रतिशत वोरिक अम्ल के घोल में 30 मिनट तक डुबोकर अथवा छिड़काव कर छायादार स्थान में सुखाकर उपचारित किया जाना चाहिए। इस प्रकार से बीजोपचार किए जाने से आलू बीज फसल में बीज द्वारा फैलने वाले अनेक फफूंदजनित रोगों से बचाव किया जा सकता है।

चिटिंग : बीज आलू में चिटिंग अत्यंत महत्वपूर्ण गुण है चूँकि बीज आलू भण्डारण के दौरान सुसुप्तावस्था में रहता है जिससे शीतगृह में भण्डारण के दौरान बीज आलू में चिटिंग नहीं आती है। जब आलू को शीतगृह से एक अवधि पश्चात बाहर निकाला जाता है तब सुसुप्तावस्था के भंग होने पर आलू में चिटिंग प्रारम्भ होती है। आलू में शीतगृह भण्डारण से निकालने के 5—10 दिवस पश्चात चिटिंग प्रारम्भ हो जाती है। हरे, स्वस्थ एवं ओजपूर्ण प्रांकुर आने के पश्चात बीज आलू बुआई हेतु तैयार / उपयुक्त माना जाता है।

बहुप्रांकुर अंकुरण : बीज के रूप में उपयोग किए जाने वाले कंद आलू में प्रांकुर का अंकुरण एक महत्वपूर्ण गुण है। प्रांकुर स्वस्थ एवं ओजपूर्ण होने से आलू के पौधे का शीघ्र अंकुरण, एक समान फसल वृद्धि होती है। बहुप्रांकुर अंकुरण होने से एक बीज कंद से अनेक शाखाऐं निकलतीं हैं जिससे पौधों की अधिक शाखाऐं एवं फैलाव अच्छा होता है। परिणामस्वरूप कंदों की संख्या एवं आकार में वृद्धि के साथ अच्छी गुणवत्ता का उत्पादन प्राप्त होता है।

बुआई का समय : आलू की फसल मुख्य रूप से बीज उत्पादन एवं भोज्य उपयोग हेतु उगाई जाती है। आलू फसल की बुआई हेतु उपयुक्त समय 15 अक्टूबर से 20 नवम्बर के दौरान माना जाता है। बुआई के दौरान वातावरणीय अधिकतम तापमान 30—32^0 सेंटीग्रेड एवं न्यूनतम तापमान 18—20^0 सेंटीग्रेड उचित होता है। मध्य प्रदेश का चंबल संभाग आलू बीज उत्पादन हेतु सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र माना जाता है। क्योंकि यहाँ की वातावरणीय स्थिति बीज उत्पादन हेतु अनुकूल है एवं इस क्षेत्र के आलू में रोग एवं कीटों का प्रकोप कम होता है।

बुवाई की विधियाँ : आलू की फसल की उत्तम वृद्धि एवं पैदावार हेतु बलुई दोमट मृदा सर्वोत्तम मानी जाती है। आलू की फसल लगाए जाने वाले खेत की मृदा का पी.एच. मान 5.5 से 7.5 के मध्य होना चाहिए। आलू की फसल की बुआई के पहले खेत की ग्रीष्मकालीन जुताई की जानी चाहिए। इस जुताई से मृदा में पाये जाने वाले रोग कारक कीटों की विभिन्न अवस्थाओं जैसे अण्डा, लार्वा, प्यूपा का नियंत्रण होता है साथ ही मृदा का सौर विकरणों से निर्जमीकरण भी होता है जिससे फसल की अनेक मृदा जनित कीट रोगों से रक्षा हो जाती है साथ ही मृदा की भौतिक अवस्था में भी सुधार होता है जिससे मृदा की जल धारण क्षमता, सरंध्रता में भी वृद्धि होती है जो कि फसल पैदावार में अत्यंत सहायक होता है। आलू का बीज उत्पादन एवं भोज्य उपयोग हेतु उगाई जाने वाली फसल में बुआई के दौरान बीज 5—7 सेमी. की गहराई तक रखना चाहिए एवं यदि फसल प्रसंस्करण उपयोग हेतु लगाई जा रही है तब बीज की गहराई 7—10 सेमी. तक रखना चाहिए। आलू फसल की बुआई मुख्य रूप से दो प्रकार से की जाती है। मेंड व कूँड विधि एवं समतल क्यारी (फ्लैट बैड) विधि। मेंड व कूँड विधि में आलू के पौधे से पौधे की दूरी 60 सेमी. एवं कंद से कंद की दूरी 20 सेमी. रखी जाती है जबकि समतल क्यारी विधि में क्यारी से क्यारी की दूरी 90 सेमी. व पौधे से पौधे की दूरी 30 सेमी. रखी जाती है।

खाद एवं उर्वरक : आलू की फसल बीज, भोज्य अथवा प्रसंस्करण उद्देश्य हेतु लगाई जा रही है। समस्त प्रकार के उत्पादन में खाद एवं उर्वरक का अत्यधिक महत्व है। उपयुक्त पोषक तत्वों के अभाव में पौधे की वृद्धि एवं उत्पादन दोनों ही प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है। अतः अनुशंसित उर्वरकों को उचित मात्रा एवं विधि से समय अनुसार फसल में उपयोग करने से उत्तम पैदावार व प्रचुर उत्पादन प्राप्त होता है। साथ ही फसल उपलब्ध संसांधनों का दक्षता पूर्वक उपयोग कर पाती है। आलू की फसल में गोबर की खाद का 20—25 टन / हे. उपयोग किया जाना चाहिए तथा यदि आलू की फसल भोज्य उपयोग हेतु लगाई जा रही है तब नत्रजन : फॉसफोरस : पोटाश को 180 : 80 : 120 किग्रा. / हे. की दर से उपयोग किया जाना चाहिए एवं यदि बीज उत्पादन किया जा रहा है तब नत्रजन : फॉसफोरस : पोटाश की 150 : 60 : 100 किग्रा. / हे. एवं प्रसंस्करण किस्मों के लिए नत्रजन, फॉसफोरस एवं पोटाश क्रमशः 270, 80 एवं 100 किग्रा. / हे. है।

अंतःसस्य क्रियाऐं : आलू की फसल में अंतः कर्षण क्रियाओं का अत्यधिक महत्व है। फसल बुआई के पश्चात खरपतवारों की वृद्धि होने से फसल के पौधों में खरपरवारों के साथ जल व पोषक तत्व हेतु कडी प्रतिस्पर्धा होती है जिसके कारण आलू की फसल वृद्धि प्रभावित होती है। इसलिए आलू की फसल बुआई के 20—25 दिवस पश्चात गुड़ाई एवं मिट्टी चढ़ाने की अंतःकर्षण क्रिया की जाती है इस क्रिया के दौरान फसल को नत्रजन की शेष बची आधी मात्रा प्रदान की जाती है। इस क्रिया के अंतर्गत आलू की मेंड व नाली की मिट्टी खोदी जाती है जिसमें यूरिया की उचित मात्रा मिलाकर मिट्टी को आलू की मेंड पर रख दिया जाता है। इस क्रिया से आलू की फसल के खरपतवार नष्ट हो जाते हैं साथ ही मृदा भुरभुरी होने के कारण मृदा की सरंध्रता में वृद्धि होती है जिससे आलू की जडों में वातायन होता है एवं मेंड पर मृदा रखे जाने के कारण बनने बाले कंद खुले नहीं रहते है जिससे आलू हरे होने की संभावना भी नगण्य हो जाती है एवं कंद विकास हेतु उपयुक्त मृदा परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

खाद एवं उर्वरकों का स्थापन : बुवाई के समय खाद एवं उर्वरक

सब्जी वाली फसल को उर्वरक	बीज वाली फसल को उर्वरक	प्रसंस्करण वाली फसल को उर्वरक
नत्रजन, स्फुर एवं पोटाश—180,80 एवं 120 किग्रा. / हे.	नत्रजन, स्फुर एवं पोटाश—150,60 एवं 100 किग्रा. / हे.	नत्रजन, स्फुर एवं पोटाश—270,80 एवं 100 किग्रा. / हे.

बीज कन्द से 5–6 सेमी. नीचे डालना चाहिये जिससे यह फसल के मूल क्षेत्र तक पहुँचे। इस प्रकार पौधा खरपतवार की तुलना में दक्षतापूर्वक पोषण प्राप्त करने में सक्षम होता है। जिससे वानस्पतिक वृद्धि को गति मिलती है व आलू पौधों के आच्छादन से भूमि शीघ्रता से ढक जाती है। जिससे खरपतवार पोषण ग्रहण नहीं कर पाते हैं इस प्रकार पादप वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था के दौरान आलू फसल में खरपतवार की सघनता कम हो जाती है।

सिंचाई : आलू फसल उत्पादन में जल प्रबंधन का अत्यधिक महत्व है। चूँकि आलू फसल में 5–6 सिंचाई की आवश्यकता होती है अतः संपूर्ण फसल अवधि के दौरान जल की उपलब्धता सुनिश्चित किया जाना अत्यावश्यक है। अन्यथा जल अभाव का प्रभाव फसल की वृद्धि व उत्पादन दोनों पर ही स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। आलू में प्रथम सिंचाई देते समय विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि आलू की मेंड के दो तिहाई भाग तक ही पानी पहुँचे यदि पानी मेंड के ऊपर से निकल जाता है तब मृदा की कडी परत बनने से बीज आलू अंकुरित होकर मृदा से ऊपर नहीं आ पाता है एवं कंद मृदा में सड़कर नष्ट हो जाता है साथ ही मृदा जनित फफूँद रोगों एवं कीटों का प्रकोप बढ़ता है।

सूक्ष्म सिंचाई विधियाँ एवं फर्टिगेशन : कूड नाली विधि में 40–50 प्रतिशत तक जल की क्षति होती है। जिसकी तुलना में टपक सिंचाई विधि में 4–5 प्रतिशत तथा स्प्रिंकलर सिंचाई में 15–20 प्रतिशत की ही क्षति होती है अतः उपरोक्त दोनों विधियों के द्वारा सिंचाई कर फसल के जल उपयोग में वृद्धि की जा सकती है। फर्टिगेशन विधि के द्वारा जल के साथ उर्वरकों का उपयोग दक्ष तरीके से किया जा सकता है। इस विधि में अनुशंसित नत्रजन, स्फुर एवं पोटाश की एक तिहाई मात्रा बुआई के समय 60 : 27 : 33 किग्रा./हे. उपयोग किया जाता है एवं शेष बची दो तिहाई मात्रा को आठ समान भागों में 15, 6.63 एवं 8.37 प्रति भाग के अनुसार बाँटकर प्रदान किया जाता है। इस विधि में उर्वरक टैंक में 35 लीटर जल एवं 15, 6.63 एवं 8.37 किलो नत्रजन स्फुर एवं पोटाश उर्वरक को मिलाकर टैंक का ढक्कन अच्छी तरह बंद करने के बाद आधा घण्टे तक उर्वरक फसल को प्रदाय किया जाना चाहिए।

आलू फसल में खरपतवार नियंत्रण : आलू में खरपतवार नियत्रण प्रारम्भिक 25–30 दिनों में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यदि सम्भव हो तो कम सघनता होने पर खरपतवारों को हाथ से निकाल देना चाहिये। आलू फसल में पाये जाने वाले मुख्य खरपतवार क्षेत्रानुसार भिन्न होते हैं। इन्हें मुख्यतः दो उप समूहों में रखा गया है, खरपतवार की प्रजातियाँ जो मैदानी क्षेत्रों में पायी जाती हैं और दूसरी जो पहाडों पर पाई जाती हैं। सिन्धु गंगा के मैदानों में आलू की फसल में पाये जाने वाले प्रमुख खरपतवार निम्न हैं– *साइनोडौन डैक्टाइलौन, साइप्रस रोटंडस, ट्राईऐन्थमा मोनोगाइना, चिनोपोडियम एल्बम, पोआ ऐनुआ, एनागेलिस आरवेन्सिस, मिलिलोटस स्पेसीज, सोनकस ओलरेसियस* एवं *विसिया सेटाइवा*। असम में कुल 33 खरपतवारों की प्रजातियाँ आलू की फसल में पायी जाती हैं जिनमें *चिनोपोडियम एल्बम, एक्सोनोपस काम्प्रेसस* एवं *साइनोडौन डेक्टाइलौन* प्रमुख खरपतवार हैं। मेघालय में खरपतवार की 42 प्रजातियाँ आलू के खेतों में पंजीकृत की गयी हैं। जिनमें द्विबीज पत्री/एक बीज पत्री खरपतवारों का अनुपात 2.4 : 1 है। मेट्रीब्यूजिन का अंकुरण पूर्व 0.5 किग्रा. सक्रिय तत्व प्रति हे. की दर से प्रयोग करने पर चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार की प्रजातियाँ नियंत्रित होती हैं एवं अनेक अन्य घासों की वृद्धि संदमित हो जाती हैं।

पादप सुरक्षा : बीज की फसल सुरक्षा हेतु माँहू इत्यादि कीड़ों से बचाव के लिए इमिडाक्लोप्रिड की 4 मिली. दवा का 10 लीटर पानी में घोल बनाकर छिडकाव करना चाहिए। इस दवा को थायोमेथेक्सोन 200 ग्रा./हे. व ट्रायजोफॉस–130 ग्रा./हे. से क्रमशः बदलकर छिड़काव करना चाहिए। छिडकाव 400–600 लीटर पानी में क्रमशः पहला, दूसरा व तीसरा छिड़काव 10–12 दिन के अन्तराल से करना चाहिए। फिर इसी क्रम को जारी रखना चाहिए। फसल को बीमारियों से सुरक्षा प्रदान करने हेतु मेंकोजेब (75 प्रतिशत वेटेबल पाउडर) नामक दवा की 2 किग्रा./हे. की दर से 10–12 दिन के अन्तराल से छिड़काव करना चाहिए। यदि पछेती झुलसा के आने की खबर मिले तो रिडोमिल 3 किग्रा./हे. या कर्जेट 3 किग्रा./हे. की दर से छिडकाव में कोजेब के स्थान पर करना चाहिए। इसमें भी पानी की मात्रा 400–600 ली./हे. रखते हैं। फसल की माँहू से सुरक्षा हेतु गुड़ाई व मिट्टी चढ़ाने के दौरान कार्टेप हाइड्राक्लोराइड 20 किग्रा./हे. की दर से उपयोग किया जाना चाहिए जिससे आलू की बीज फसल में माँहू द्वारा संचरित किये जाने वाले रोगों से बचाव किया जा सकता है। आलू की फसल में दीमक नियंत्रण करने हेतु क्लोरोपाइरीफॉस 20 ईसी. का 2.5 ली./हे. की दर से उपयोग किया जाना चाहिए। स्टेम नेक्रोसिस से फसल की सुरक्षा के लिए 4 मिली. इमिडाक्लोप्रिड दवा का घोल बनाकर बीजोपचार करके बुवाई करना चाहिए। बुवाई के बाद 21 दिन व 35 दिन पर इसी दवा का 0.004 प्रतिशत का घोल बनाकर छिडकाव करना चाहिये। खेत में उचित नमी बनाये रखने व धान के पुआल की मल्चिंग करने से भी इस बीमारी को कुछ हद तक नियंत्रित किया जा सकता है।

रोगिंग : बीज उत्पादन में अन्य प्रजातियों एवं बीमार (मोजैक) पौधों को खेत से कन्द समेत उखाड़ कर नष्ट करना होता है यह प्रक्रिया तीन बार की जाती है। टपक सिंचित बीज उत्पादन वाले

खेतों में यह प्रक्रिया आसान होती है एवं कभी भी की जा सकती है क्योंकि दो बेड़ के बीच की जगह चलने हेतु हमेशा सूखी रहती है।

हाल्म किलिंग : आलू बीज फसल में पत्ते काटना एक महत्वपूर्ण क्रियाकलाप है। इसे माहू की संख्या क्रान्तिक स्तर (20 प्रति 100 कम्पाउण्ड लीफ) पर पहुंचने के पूर्व ही किया जाता है। पत्ते काटने का समय क्षेत्र विशेष में माहू की संख्या पर आधारित होता है एवं बीषाणुमुक्त आलू बीज उत्पादन करने के लिये अपनाया जाता है। आलू उत्पादक पत्ते काटने का कार्य माहू के क्रान्तिक स्तर 20 माहू/100 संयुक्त पत्ती पर पहुँचने के आधार पर करते हैं। मध्यप्रदेश के ग्वालियर क्षेत्र में यह कार्य 15 जनवरी तक हो जाता है। पत्ते काटने के 15–20 दिन पश्चात् आलू की त्वचा सख्त हो जाती है एवं यह खुदाई के लिये तैयार हो जाता है।

खुदाई : बीज की फसल में हाल्म किलिंग के 15–20 दिन बाद जब कन्द का छिलका कड़ा हो जाय एवं खुदाई में छिले नहीं, उस समय पर खुदाई करना चाहिए। खुदाई के बाद बीज आलुओं का छायादार जगह पर ढ़ेर लगा देना चाहिए।

ग्रेडिंगः 15–20 दिन तक खेत में रखने के बाद आलुओं को तीन श्रेणी–25 ग्रा. से कम , 25–125 ग्रा. व 125 ग्रा. से ऊपर में श्रेणीकृत कर लेते हैं। इसमें कटे, फटे, सड़े आलुओं को अलग कर देते हैं।

बीजोपचार : श्रेणीकरण के बाद बीज आलुओं का 3 प्रतिशत बोरिक एसिड पाउडर का घोल बनाकर उसमें कन्दों को 25–30 मिनट तक डुबोकर उपचारित करते हैं उसके बाद छायादार जगह पर आलुओं को सुखाते हैं।

उपजः इस प्रकार सभी सस्य क्रियाएं अपनाने एवं टपक सिंचाई करने से 25–30 प्रतिशत अधिक उपज (कुल उपज 22.5–25.0 टन/हे.), उर्वरक नत्रजन पर 25 प्रतिशत की बचत व 40–50 प्रतिशत तक पानी की बचत होती है।

आलू भण्डारणः भारत के सिंधु गंगा के मैदानी क्षेत्रों में आलू की फसल फरवरी–मार्च के दौरान खुंदाई कर ली जाती है। जब तापक्रम बढ़ने लगता है तब इसे शीत भण्डारण कर लिया जाता है। भोज्य एवं प्रसंस्करण उपयोग हेतु आलू को सामान्यतः 10 से 12 डिग्री सेंटीग्रेड तापक्रम पर भण्डारित करने पर सीआईपीसी उपचार किया जाता है ताकि आलू का अंकुरण न हो। इस प्रकार के भण्डारण से अत्यधिक शर्करा का संग्रहण नहीं हो पाता है जिससे आलू स्वाद में मीठे नहीं हो पाते।

निष्कर्ष : भा.कृ.अनु.प.–केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान, शिमला ने एक कम लागत ढेर भंडारण तकनीक विकसित की है जिसमें खुदाई उपरान्त उपयुक्त वातायन एवं सीआईपीसी के उपयोग द्वारा अंकुरण संदमन किया जाता है। बीज आलू को बोरों में भरकर 2–4 डिग्री सेंटीग्रेड पर शीत भण्डारण कर लिया जाता है।

कोई मूल्य तब मूल्यवान है जब मूल्य का मूल्य स्वयं के लिए मूल्यवान है।

*****

जीवन में मृत्यु को टाला नहीं जा सकता, हर कोई ये जानता है, फिर भी अधिकतर लोग अन्दर से इसे नहीं मानते –'ये मेरे साथ नहीं होगा।' इसी कारण से मृत्यु सबसे कठिन चुनौती है जिसका मनुष्य को सामना करना पड़ता है।

*****

अज्ञानी होना गलत नहीं है, अज्ञानी बने रहना गलत है।

*****

ईश्वरपूर्ण रूप से पवित्र और बुद्धिमान है। उसकी प्रकृतिगुण और शक्तियाँ सभी पवित्र है। वह सर्वव्यापी, निराकार, अजन्मा, अपरी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, दयालु और न्याययुक्त है। वह दुनिया का रचनाकार और संहारक है।

पोषण सुरक्षा और जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए बाजरा की खेती एवं उसकी उपयोगिता

कपिल कुमार तिवारी[1], अनुज कुमार सिंह[1], आशुतोष सिंह[2] एवं अंशुमान सिंह[2]

सारांश : अनिश्चित तापमान, प्राकृतिक वर्षा पर निर्भरता और सूखे के कारण भारतीय कृषि को आज भी बहुत सारी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। सूखे के कारण उत्तर प्रदेश का बुन्देलखण्ड क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित रहता है, वर्षा की अनिश्चित्ता के कारण अन्नदाता के घर कभी–कभी अन्न का एक दाना भी नहीं पहुँचता है, इन परिस्थितियों में किसानों को इस प्रकार की फसलों का चयन करना चाहिये जिनको इन परिस्थितियों में सफलता पूर्वक उगाया जा सके।

परिचयः कुछ दशको के सतत् अनुसंधान के फलस्वरुप हमने भोजन की अपनी जरूरत को तो सुरक्षित कर लिया है लेकिन पोषण सुरक्षा हासिल करना अभी भी बाकी है। कुपोषण भारत की जनसंख्या की प्रमुख समस्या है, लोग कुपोषण के फलस्वरूप विभिन्न रोगों से ग्रस्त रहते हैं। बाजरा एक ऐसी फसल है जिसमे पोषक तत्त्व अत्यधिक मात्रा में पाए जाते है। बाजारा की पर्याप्त उप्लब्धता एवं उसका उपयोग कुपोषण की समस्या को कम करने में एक अहम् भूमिका निभा सकता है। भारत में बाजरा की खेती का प्रारम्भ प्राचीन काल में 2000 ईसा पूर्व के आसपास बताया जाता है, और इसकी खेती उत्तर भारत से दक्षिण भारत में 1500 ईसा पूर्व तक तेजी से फैल गई थी। इसकी खेती खाद्यान्न और चारे दोनों ही उद्देश्य से की जाती है। यह प्रोटीन, फाइबर, फॉस्फोरस, मेग्नीशियम और आयरन जैसे आवश्यक यौगिक तत्वों में समृद्ध है। खनिजों और प्रोटीन की अपनी समृद्ध संरचना के कारण, इसके कई स्वास्थ्य लाभ हैं। बाजरा में चावल और गेहूँ जैसे अन्य अनाजों की तुलना में उच्च जल उपयोग दक्षता और पोषक तत्व उपयोग दक्षता भी विधमान है। इसकी तापमान की आवश्यकता भी चावल और गेहूँ की तुलना में अधिक है, इसलिए यह जलवायु परिवर्तन से प्रभावित नहीं है। चावल, गेहूँ, और ज्वार के बाद, और विशेष रूप से अर्धशुष्क क्षेत्रों में, बाजरा दुनिया में सबसे अधिक खेती की जाने वाली अनाज में से एक है। हमारे देश में 2016–17 के दौरान बाजरा की खेती कुल 7.47 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में की गयी थी जिसमें कुल 9.8 मिलियन टन का उत्पादन हुआ जिसकी उत्पादकता 1312 किलो प्रति हेक्टेयर रही। जबकि इसी अवधि में उत्तर प्रदेश में इसकी खेती 0.91 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में की गयी जिससे 1.71 मिलियन टन उत्पादन के साथ इसकी उत्पादकता 1914 किलोग्राम रही। 2018–19 के दौरान लगभग 65.47 लाख हेक्टेयर क्षेत्र बाजरे के दायरे में आया। राजस्थान (39.92 लाख हेक्टेयर), महाराष्ट्र (5.26 लाख हेक्टेयर), उत्तर प्रदेश (9.37 लाख हेक्टेयर), हरियाणा (4.33 लाख हेक्टेयर), मध्य प्रदेश (2.56 लाख हेक्टेयर), कर्नाटक (1.81 लाख हेक्टेयर) और गुजरात (1.58 लाख हेक्टेयर) भारत में बाजरे के प्रमुख उत्पादक राज्य हैं।

बाजरे की पौष्टिक संरचनाः

बाजरे में प्रति 100 ग्राम में प्रोटीन 11 ग्राम, कार्बोहाइड्रेट 70 ग्राम, फाइबर 8–10 ग्राम, वसा 4–6 ग्राम, आयरन 3 मिलीग्राम, मेग्नीशियम 1.14 मिलीग्राम, जस्ता 1.62 मिलीग्राम पाया जाता है (एनआईएन 2003), इसके साथ ही साथ विटामिन और एंटीऑक्सीडेंट भी भरपूर मात्रा में पाए जाते है। प्रोटीन व वसा की उचित मात्रा होने के कारण यह ऊर्जा का समृद्ध स्रोत (361 किलो कैलोरी / 100 ग्राम) भी है।

उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड क्षेत्र के लिए खेती का वैज्ञानिक तरीकाः

विशेष विवरण

1. **मिट्टी और भूमि की तैयारीः** जलभराव की स्थिति वाली मृदा को छोड़कर सभी प्रकार की मिट्टी में इसकी खेती की जा सकती है। एक या दो बार हल से जोतने के साथ एक बार हैरो चलाना पर्याप्त रहता है।
2. **उन्नत किस्मेंः** आर.एच.बी. –173, 86 एम. 66, 86 एम. 86, 86 एम. 89, एम.पी. 7792, एम.पी. 7872, के.बी.एच. 108, बायो 448, जी.एच.बी. 905, एम.पी.एम.एच. 17, कावेरी सुपर बॉस, जे.बी.वी. 3, पी.सी. 383, आई.सी.एम.वी. 221, राज 171 शुष्क क्षेत्रों (पानी की कमी) में उगाई जाने बाली किस्मेंः एच.एच.बी. 67, एन्प्रोवेद, जी.एच.बी. 757, जी.एच.बी. 719, पूसा कम्पोजिट 443।
3. **बुवाई की विधिः** फ्लैट बैड प्रणाली, बुवाई की गहराई 2.5 से 3 सेमी., पंक्ति से पंक्ति की दूरी 60 सेमी. और पौधे की जनसंख्या 1–1.25 लाख प्रति हेक्टेयर रखना चाहिये।

[1]*एस.डी. कृषि विश्वविद्यालय, सरदार कृषिनगर–385506 गुजरात, भारत*
[2]*रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी–284003 भारत*

बीज दरः 3 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर बोना चाहिए।

4. **बुवाई का समयः** जुलाई का पहला पखवाड़ा।

5. **बीजोपचारः** मृदा जनित रोगो के लिए ट्राइकोडर्मा हर्जियानम/4 ग्राम प्रति किलो बीज या थीरम 75 प्रतिशत/धूल/3 ग्राम प्रति किलो बीज प्रयोग करना चाहिए।

   धूम्र रोगः सल्फर पाउडर 4 ग्राम से प्रति किलो बीज का शोधन करना चाहिए।

   अर्गत रोगः इससे बचाव हेतु बीज को 10 प्रतिशत नमक के घोल में उपचारित करना चाहिए। नाइट्रोजन और फास्फोरस की उपलब्धता बढ़ाने के लिए बीज को एजोस्पिरिलम और फॉस्फोबैक्टीरियम के कल्चर से उपचारित किया जाता है।

6. **उर्वरक की मात्रा :** अर्ध–शुष्क क्षेत्रों के लिए 60 किलोग्राम नाइट्रोजन/हेक्टेयर, 30 किलोग्राम फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर उर्वरक देने की सिफारिश की जाती है। नाइट्रोजन की केवल आधी मात्रा को बीजों की बुवाई के समय में देना चाहिए। नाइट्रोजन की शेष आधी मात्रा तब दी जाती है जब फसल 25 दिन की होती है। यदि मिट्टी में जस्ता की कमी है तो 10 किलोग्राम जिंक सल्फर/हेक्टेयर प्रयोग करना चाहिये। खड़ी फसल में जिंक की कमी को ठीक करने के लिए पुष्प आने से पहले 0–2 प्रतिशत जिंक सल्फर का छिड़काव करना चाहिये। यदि लम्बे समय तक सूखा रहता है तो, नाइट्रोजन की शीर्ष ड्रेसिंग को छोड़ दें और उसके स्थान पर 2 प्रतिशत यूरिया छिड़काव करना चाहिए। वानस्पतिक अवस्था के दौरान अत्यधिक बारिश की स्थिति में, नाइट्रोजन/20 किलोग्राम/हेक्टेयर की अतिरिक्त खुराक दी जानी चाहिए।

7. **खरपतवार नियंत्रण :** प्रभावी रूप से खरपतवारों को नियंत्रित करने के लिए बुवाई के 15 और 30 दिन बाद दो बार खरपतवारो को निकालना पर्याप्त या उचित होता हैं।

8. **सिंचाई :** पानी की उपलब्धता के अनुसार सिंचाई को फसल के विकास के महत्वपूर्ण चरणों जैसे किल्लो के आते समय, फूलों के आते समय वा दानो के भरते समय दिया जाना चाहिए।

9. **फसल की कटाई :** बाजरा के फसल की कटाई का निर्धारण दाने में स्थित काले धब्बों द्वारा किया जा सकता है। बाजरा में दाने वाले भाग की कटाई सामान्य परिस्थितियो में डंठल से पहले की जाती है। एक सप्ताह तक सूखने के बाद डंठल (भूसा) काटा जाता है, 14 प्रतिशत से कम नमी को सूखा माना जाता है। दीर्घकालिक भंडारण (6 महीने से अधिक) के लिए, अनाज की नमी 12 प्रतिशत से कम होनी चाहिए।

बाजरा का स्वास्थ्य लाभः

1. मेग्नीशियम की उच्च मात्रा : बाजरा में मेग्नीशियम की उच्च सघनता होती है जो अस्थमा के रोगियों के लिए श्वसन समस्याओं की गंभीरता को कम करने में मदद करती है और यह माइग्रेन के दौरों को कम करने में भी प्रभावी है। मेग्नीशियम और फाइटेट की उच्च मात्रा कैंसर के खतरे को भी कम करती है।
2. डायबिटीज को नियंत्रित करने के लिए बाजरा बहुत प्रभावी है। इसकी उच्च रेशे की मात्रा के कारण, यह धीरे–धीरे पचता है और अन्य खाद्य पदार्थों की तुलना में धीमी दर पर ग्लूकोज को रक्त में छोड़ता है।
3. पेट में अल्सर भोजन के सेवन के बाद पेट में अधिक अम्लता के कारण होता है। बाजरा बहुत कम खाद्य पदार्थों में से एक है जो पेट की अम्लता को कम करता है एवं अल्सर के प्रभाव को भी कम करता है।
4. बाजरा में फास्फोरस की एक बड़ी मात्रा होती है। हड्डियों के विकास और मजबूती के लिए फास्फोरस बहुत आवश्यक है।
5. बाजरा वजन घटाने की प्रक्रिया में सहायता कर सकता है क्योंकि इसमें रेशे की मात्रा उच्च होती है। इसकी रेशे की मात्रा के कारण अनाज को पेट से आंतों में जाने में अधिक समय लगता है। यह अगली भोजन आवश्यकता के लिए समय बढ़ाता है।
6. दिल की सेहत के लिए बाजरा लिग्निन से भरपूर होता है और बाजरे में यह फाइटोन्यूट्रिएंट्स मजबूत एंटीऑक्सीडेंट की तरह काम करते हैं।
7. सीलिएक रोग एक ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने भोजन में ग्लूटेन की थोड़ी मात्रा भी बर्दाश्त नहीं कर सकता है। दुर्भाग्य से, अधिकांश सामान्य अनाज जैसे चावल, गेहूँ आदि में ग्लूटेन मौजूद होता है। बाजरा एक मात्र प्रकार का अनाज है जिसमें कोई लस नहीं होता है। इस प्रकार यह सीलिएक रोग वाले लोगों के लिए उपयुक्त है।
8. उच्च कोलेस्ट्रॉल स्तर से पीड़ित लोगों के लिए बाजरा का सुझाव दिया गया है। बाजरा में एक प्रकार का फाइटोकेमिकल होता है जिसे फाइटिक एसिड कहा जाता है जो कोलेस्ट्रॉल के उपापचयी को बढ़ाने और शरीर में कोलेस्ट्रॉल के स्तर को स्थिर करने के लिए उपयोगी माना जाता है।

9. इसमें सभी आवश्यक अमीनो अम्ल होते हैं।

10. बाजरा में उच्च रेशे की मात्रा को पित्त की पथरी होने के जोखिम को कम करने के लिए भी जाना जाता है।

11. बाजरा लाभकारी गुणों का खजाना है। इस तरह से अनाज बहुत सुपाच्य होता है और एलर्जी की प्रतिक्रिया की संभावना बहुत कम होती है।

निष्कर्ष :

बाजरा की खेती चारे साथ–साथ के अनाज के उद्देश्य से की जा सकती है। इसकी पोषण गुणवत्ता बहुत अधिक है। इसकी खेती उच्च तापमान और सूखे की कठोर स्थिति में की जा सकती है। भारत सरकार और चिकित्सक अब सभी लोगों के बीच इसके लाभों से लोगों को शिक्षित कर रहे हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के किसानों के लिए यह फायदेमंद है कि वे इस क्षेत्र में कम वर्षा के कारण बाजरा की खेती कर सकते हैं। इसकी उपयोगिता को देखते हुए, भविष्य में इसके बने हुए पदार्थों की व्यवसायीकरण की प्रबल सम्भावनाये हैं, जो बुन्देलखण्ड के लोगो को अच्छे स्वास्थ्य के साथ साथ एक अच्छे व्यवसाय का भी माध्यम हो सकता है।

वह अच्छा और बुद्धिमान है जो हमशा सच बोलता है, धर्म के अनुसार काम करता है और दूसरों को उत्तम और प्रसन्न बनाने का प्रयास करता है।

*****

उपकार बुराई का अंत करता है। सदाचार की प्रथा का आरम्भ करता है और लोक कल्याण तथा सभ्यता में योगदान देता है।

*****

शिक्षा के प्रति प्रत्येक किसान को जागरूक होना चाहिए तभी उनका जीवन बेहतर हो सकता है।

*****

कृषि को व्यवसाय से जोड़कर ही किसानों की समस्यायों का हल किया जा सकता है।

*****

शिक्षित किसान सबसे ज्यादा खुशहाल होते है।

*****

हमें अपने जीवन में कभी-कभी डॉक्टर, वकील, इंजीनियर की जरूरत पड़ती है, परन्तु हर दिन तीन बार हमें किसान की जरूरत पड़ती है।

*****

भारतीय किसान के जीवन सत्र और उनके परिश्रम में बड़ा अंतर होता है। वे जितना मेहनत करते हैं, उसका उन्हें उचित मूल्य नहीं मिलता है। इनकी समस्या का मुख्य कारण अशिक्षा है। इसके प्रति किसान खुद को और आने वाली पीढ़ियों को शिक्षित करें और कृषि में व्यापारिक सम्भावना की तलाश करें।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में तिल की खेती किसानों के लिए वरदान

राकेश चौधरी, विष्णु कुमार, अंशुमान सिंह एवं सुशील कुमार चतुर्वेदी

सारांश : मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश राज्यों का बुन्देलखण्ड क्षेत्र तिल उत्पादन का मुख्य क्षेत्र है। जहाँ लगभग 3 से 4 लाख हेक्टेयर में तिल की खेती की जाती है। अन्नाप्रथा के कारण बुन्देलखण्ड क्षेत्र में खरीफ के मौसम में रबी की अपेक्षा आधे से कम क्षेत्रफल में खेती की जाती है। अन्नाप्रथा एक परंपरा है, जिसमें किसान अपने मवेशियों को खरीफ के मौसम में खेतों में चरने के लिए छोड़ देते हैं। जोकि फसलों को नुकसान पहुंचाते हैं, इसी कारणवश किसान खरीफ ऋतु में फसलों का उत्पादन नहीं करते हैं। बदलते समय में किसान कि आय दोगुनी करने के लिए किसानों को केवल रबी की फसल पर ही निर्भर ना रहते हुए, खरीफ में भी कम लागत के साथ अधिक आय देने वाली फसल की पैदावार लेनी चाहिए।

परिचय : तिल बुन्देलखण्ड की परंपरागत फसलों में से एक है। बुन्देलखण्ड में होने वाली अनियमित वर्षा एवं सूखाग्रस्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए तिल का उत्पादन किया जाता है, जो कि एक कम पानी वाली फसल है। तिल खरीफ के मौसम में होने वाली एकमात्र फसल है, जिसको गाय एवं अन्य पशु नहीं खाते हैं। इसलिए तिल की खेती की बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अपार संभावनाएं हैं। तिल पैदावार की अपार सम्भावनाओं को देखते हुए खरीफ के मौसम में खाली रहने वाले विशाल क्षेत्र में तिल की खेती कर बुन्देलखण्ड तेल उत्पादन में राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है।

महत्त्व : तिल एक बहुउपयोगी तैलीय फसल है तथा इसके तेल का उपयोग मुख्यतः पकवान बनाने, बेकरी उत्पादों में एवं अनेकों प्रकार के सुगंधित एवं औषधीय तेल बनाने में किया जाता है। तिल के तेल की उच्च पौष्टिक गुणवत्ता के कारण भारतीय संस्कृति में इसे घी के बाद सबसे शुभ माना जाता है। तिल के बीजों का उपयोग बेकरी से बने उत्पादों में भी किया जाता है। तिल की खली पशुओं एवं मुर्गी पालन के लिए एक पौष्टिक आहार है। बीजों के रंग के आधार पर तिल मुख्यतः दो प्रकार की होती है, सफेद एवं काली, दोनों का ही उपयोग तेल निकालने एवं खाने में किया जाता है, लेकिन काला तिल पूजा में ज्यादा शुभ माना जाता है। तिल के बीजों में 50–60 प्रतिशत तक तेल, 20–25 प्रतिशत प्रोटीन एवं 13–15 प्रतिशत कार्बोहाईड्रेट पाया जाता है। तिल में केल्शियम (1 प्रतिशत), फास्फोरस (0.7 प्रतिशत) एवं अन्य आवश्यक सूक्ष्म तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। तिल के प्रोटीन में लाईसीन कम मात्रा में होता हैं लेकिन ट्रिप्टोफन और मिथिओनिन अमीनो अम्ल प्रचुर मात्रा में होते हैं। तिल के तेल में लिनोलिक अम्ल, ओलिक अम्ल एवं गामा–टोकोफेरोल की प्रचुर मात्रा उपलब्ध होती हैं। तिल के बीजों में प्रयाप्त मात्रा में एंटी–ऑक्सीडेंट सेसमीन (0.4–1.1 प्रतिशत) तथा सेसमोलिन 0.3–0.6 प्रतिशत) पाये जाते हैं, जो कि स्वास्थ्य वर्धक तत्व हैं। तिल के बीज, तेल, आटे अथवा मील में निम्नलिखित मात्रा में पोषक तत्व पाये जाते हैं :

पोषक तत्व	तिल के बीज	तिल का तेल	तिल का आटा	तिल का मील
ऊर्जा (किलो कैलोरी / 100 ग्रा.)	586.0	884.0	382.0	567.0
प्रोटीन (ग्रा. / 100 ग्रा.)	18.1	0	40.3	17.0
कुल वसा (ग्रा. / 100 ग्रा.)	50.9	100.0	11.9	48.0
कार्बोहाईड्रेट (ग्रा. / 100 ग्रा.)	24.0	0	35.1	26.0
कुल रेशा (ग्रा. / 100 ग्रा.)	5.5	0	–	–
कैल्शियम (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	960.0	0	150.0	153.0
लौह तत्व (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	19.2	0	14.3	14.5
मैगनीशियम (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	362.0	0	362.0	346.0

रानी लक्ष्मीबाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी–284003 (उत्तर प्रदेश)

फास्फोरस (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	659.0	0	810.0	774.0
सोडियम (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	12.0	0	41.0	39.0
सेलीनियम (माइक्रो ग्रा. / 100 ग्रा.)	35.5	0	–	–
नियाशीन (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	6.7	0	12.6	12.8
थायामिन (बी1) (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	0.2	0	2.5	2.6
विटामिन बी6 (मि.ग्रा. / 100 ग्रा.)	0.8	0	0.1	0.1
फोलेट (माइक्रो ग्रा. / 100 ग्रा.)	100.0	0	29.0	30.0

(स्रोतः डी.ओ.आई. : 10–4172 / 2155–96300–1000127)

तिल की खेती निम्नलिखित उन्नत तकनीकों से की जाए तो अधिक आय एवं अच्छी उत्पादकता ली जा सकती हैं :

जलवायु एवं ऋतुः बुन्देलखण्ड में तिल की फसल को खरीफ के मौसम में उगाया जाता है। इसके लिए उपयुक्त तापमान 25 से 35 डिग्री सेल्सियस होता है। इसके लिए 45 डिग्री सेल्सियस से अधिक अथवा 15 डिग्री सेल्सियस से कम तापमान उत्पादकता को बहुत अधिक प्रभावित करता है। बुवाई का उचित समय मानसून की प्रथम वर्षा के बाद जून के अंतिम सप्ताह से मध्य जुलाई तक होता है। बुवाई के समय 25 से 27 डिग्री सेल्सियस तापमान अंकुरण के लिए उपयुक्त होता है।

भूमि का प्रकारः तिल की खेती प्रमुख रूप से राकड़ एवं पड़वा तथा अच्छे जल निकास वाली कावर एवं मार भूमि में की जाती हैं। ज्यादा अम्लीय एवं क्षारीय भूमि (पीएच–<5.5–>8.2) तिल की फसल के लिए उपयुक्त नहीं होती है। तिल पानी के भराव के लिए ज्यादा संवेदनशील होती हैं। अतः उचित जल निकास का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

खेत की तैयारीः पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा आवश्यकतानुसार एक–दो जुताई कल्टीवेटर या देशी हल या हैरो चलाकर करनी चाहिए। अच्छे बीज अंकुरण के लिए भूमि का भुरभुरा होना अथवा मृदा में पर्याप्त नमी का होना अनिवार्य है।

बीज दर एवं बीज शोधनः अधिक उपज के लिए फसल को पंक्तियों में बोना चाहिए, जिसके लिए 2.5 से 3.0 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर बीज पर्याप्त होता है। कतारों में बोने से निराई– गुड़ाई में बाधा नहीं आती है। बीज जनित रोगों के उपचार या नियंत्रण के लिए थिरम 2 ग्राम प्रति किलोग्राम, कार्बेंडाजिम 1 ग्राम प्रति किलोग्राम से या जैव–नियंत्रक ट्राइकोडरमा विरिडी 5 ग्राम प्रति किलोग्राम की दर से उपचारित बीज ही बोना चाहिए।

उन्नत प्रजातियाँः तिल की अधिक उपज के लिए उन्नतशील किस्मों का प्रयोग करना चाहिए। रोग एवं कीट प्रतिरोधक किस्मों के उपयोग से फसल में कीटों एवं बीमारियों का प्रकोप कम होता हैं तथा उन्नत किस्मों के प्रयोग से 20–30 प्रतिशत अधिक उपज प्राप्त की जा सकती हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में लगभग 80–85 प्रतिशत किसान अभी भी स्वयं द्वारा पैदा किए गए स्थानीय किस्मों के बीज प्रतिवर्ष प्रयोग में लेते हैं। जबकि अधिक उपज के लिए निम्न उन्नतशील किस्मों का उपयोग करना चाहिएः

उन्नत प्रजातियाँ	पकने की अवधि (दिनों में)	उत्पादन क्षमता (किग्रा./हे.)	तेल की मात्रा (प्रतिशत)	प्रमुख विशेषताएँ
प्रगति (एम टी– 75)	85–90	700–750	48–52	सफेद रंग के बीज, पर्णताभ रोग एवं पर्ण कुंचन प्रतिरोधी, तना एवं जड़ गलन के लिए मध्यम प्रतिरोधी
शेखर (एस एच–446)	85–90	700–800	50–52	सफेद रंग के बीज, पर्णताभ रोग प्रतिरोधी, तना एवं जड़ गलन के लिए मध्यम प्रतिरोधी
टी–13	82–88	600–700	48–52	बीजों का रंग सफेद, फसल लॉजिंग प्रतिरोधी
टी के जी– 306	86–90	700–800	49–52	सफेद बीज, फाइटोथोरा अंगमारी, तना एवं जड़ गलन तथा पर्णताभ रोग बीमारी के लिये सहनशील।
टी के जी– 308	85–90	700–750	46–50	सफेद बीज, तना एवं जड सड़न रोग के लिये सहनशील
आर टी– 346	82–86	750–850	49–51	बीज चमकीले एवं सफेद, पर्ण कुंचन एवं पर्णताभ रोग प्रतिरोधी
आर टी– 351	78–92	700–800	48–51	सफेद बीज, सूखा प्रतिरोधी, पर्ण कुंचन, सरकोस्पोरा पत्ती धब्बा एवं पर्णताभ रोग प्रतिरोधी तथा फली छेदक कीड़े के लिए मध्यम प्रतिरोधी

बुवाई की विधिः बुवाई के समय बीजों के समान वितरण के लिए बीज को रेत, सूखी मिट्टी एवं अच्छी छनी हुई गोबर खाद के साथ 1:20 के अनुपात में मिला लेना चाहिए। सीड ड्रिल या हल के पीछे पंक्ति से पंक्ति की दूरी 30 सेंटीमीटर और पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेंटीमीटर रखते हुए 2 से 2.5 सेंटीमीटर गहराई पर बीज बोना चाहिए।

खरपतवार नियंत्रणः बुवाई से पहले 20 दिनों तक फसल को खरपतवार से ज्यादा खतरा रहता है। तिल में दो निराई ज्यादा उपयुक्त होती है, जो कि पहली निराई बुवाई के 15 से 20 दिन बाद और दूसरी निराई बुवाई के 30 से 35 दिन बाद करनी चाहिए। एक निराई हाथों से तथा दूसरी यांत्रिक तरीके (हैंड–हो) से की जाए तो ज्यादा बेहतर परिणाम मिलतें हैं। खरपतवार के नियंत्रण के लिए पेंडीमिथेलिन का 500–700 मि.ली. प्रति हेक्टेयर की दर से बुवाई के 48 घंटे के अंदर 500 से 600 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करना उचित रहता है।

उर्वरक प्रबंधनः अंतिम जुताई से पूर्व 5 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की सड़ी खाद को भूमि में अच्छे से मिला देना चाहिए। उर्वरकों का उपयोग भूमि परीक्षण के आधार पर ही करना चाहिए। वर्षा आधारित फसल में 30 से 35 किलोग्राम नत्रजन, 20 से 40 किलोग्राम फास्फोरस तथा राकड़ एवं भूड़ मृदा में 10 से 30 किलोग्राम पोटाश का उपयोग किया जाना चाहिए। नत्रजन की आधी मात्रा बुवाई के समय अथवा आधी मात्रा बुवाई के 30से 35 दिनों बाद फूल लगने के वक्त खड़ी फसल में करनी चाहिए। तिल की फसल में 10–20 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर गंधक या 200 किलोग्राम जिप्सम के प्रयोग से पैदावार एवं तेल की मात्रा में आशातीत वृद्धि होती है।

सिंचाई प्रबंधनः वर्षा की अनियमितता के चलते लंबे सूखे की स्थिति में फूलों के बनने के शुरूआत एवं फलियाँ (संपुट/केप्सुल) बनने के वक्त एक सिंचाई करने से भरपूर उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

फसल सुरक्षाः

(i) कीट सुरक्षाः

पत्ती एवं फली की छेदकः यह कीट तिल की पत्तियों, फूल व फलियों (संपुट/केप्सुल) को हानि पहुंचाता हैं। इस कीट की गीडारें कोमल पत्तियों को खाती है तथा जाला बनाकर पत्तियों को बांध देती है तथा पौधे की बढ़वार रुक जाती हैं। इसके उपचार के लिए डाई मेथोएट–30– ई सी 1–25 लीटर प्रति हेक्टेयर, क्यूनॉलफॉस 25 ई सी 1–25 लीटर प्रति हेक्टेयर एवं मेथायल–ओ–डेमेटोन 25 ई सी 1 लीटर प्रति हेक्टेयर में से किसी एक रसायन का छिड़काव करना चाहिए। कीटों का प्रकोप अधिक होने की अवस्था में आवश्यकता पड़ने पर इस छिड़काव को 15 दिन के अंतराल पर पुनः करना चाहिए।

जेसिड (रस चूषक कीट)ः यह छोटे कीट होते हैं, जो पत्तियों का रस चूसते हैं तथा कीट के अधिक प्रकोप होने पर पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। इसका उपचार भी डाई मेथोएट–30– ई सी 1.25 लीटर प्रति हेक्टेयर, क्यूनॉलफॉस 25 ई सी 1.25 लीटर प्रति हेक्टेयर एवं मेथायल–ओ–डेमेटोन 25 ई सी 1 लीटर प्रति हेक्टेयर में से किसी एक रसायन के छिड़काव से कर सकते हैं।

तिल की पिटिका मक्खी (गाल मिज)ः यह 0–5 सेंटीमीटर लंबी तथा लाल रंग की मक्खी होती हैं। यह मक्खी अंडे कलियों, फलों, पत्तियों एवं शाखाओं पर देती हैं। लगभग 4 दिन बाद अंडो से निकले मेगट फूलों के विभिन्न भागों को खाकर कलियों में विशेष विकृति पैदा कर देता है, जिससे उनमें न तो फूल आते हैं और ना ही फल बनते है, इसके नियंत्रण के लिए फूल बनने के समय डाई मेथोएट–30– ई सी 1.5 मिली. प्रति लीटर या एक लीटर प्रति हेक्टेयर 500–600 पानी में घोल कर छिड़काव करना चाहिए।

(ii) रोग निदानः

फाइटोप्थोरा झुलसा रोगः प्रारंभिक अवस्था में पतियों पर छोटे भूरे धब्बे दिखाई देते हैं, जो कि बाद में काले हो जाते हैं। रोग का प्रकोप बढ़ने पर पतियों को पूर्णतया झुलसा देते हैं, इस रोग का नियंत्रण रिडोमिल एम जेड 0.25% अथवा कॉपर ऑक्सीक्लोराइड 0.25% के तीन छिड़काव रोग के शुरुआत से प्रत्येक 10 दिन के अंतराल में करने से किया जा सकता हैं।

फाइलोडी (पर्णताभ रोग)ः यह रोग फाइटोप्लाजमा द्वारा होता है एवं इस रोग से पुष्प के विभिन्न भाग विकृत होकर छोटी मुड़ी हुई हरित पत्तियों के गुच्छ में बदल जाते हैं। यह रोग जेसिड (रस चूषक कीट) द्वारा होता है तथा इस रोग का नियंत्रण जेसिड के नियंत्रण से ही किया जा सकता है।

जड़ एवं तना गलन रोगः संक्रमित पौधे की जड़ व तने की छाल हटाने पर नीचे का रंग काला या भूरा दिखाई देता हैं, जो कि फफूंद के स्क्लेरोशीयम होते हैं। संक्रमित पौधे कि तने, शाखाओं, पत्तियों व फलियों (संपुट/कैप्सूल) पर छोटे–छोटे काले दाने दिखाई देते हैं तथा अधिक प्रकोप से पौधे जल्दी ही पक जाते हैं और फलियों (संपुट/कैप्सूल) में बीज नहीं बन पाते या सिकुड़ जाते हैं। इस रोग की रोकथाम हेतु रोग प्रतिरोधक प्रजाति एवं उपचारित बीज की ही बुवाई करनी चाहिए। खड़ी फसल पर रोग प्रारंभ होने पर थिरम 2 ग्राम् एवं कार्बेंडाजिम 1 ग्राम (कुल–3 ग्राम)

प्रति लीटर की दर से पानी में घोल बनाकर पौधों की जड़ों को तर करें। अधिक प्रकोप होने पर एक सप्ताह पश्चात पुनः छिड़काव करें।

एकीकृत जीव नाशी प्रबंधनः रोग प्रतिरोधक उन्नत प्रजाति, उपचारित बीज (कार्बेंडाजिम 50 डबल्यू पी – 1 ग्राम/किग्रा, थिरम 2 ग्राम/किग्रा या ट्राइकोडरमा विरिडी 5 ग्राम/किग्रा), दो छिड़काव नीम के तेल के (0.25%) अथवा इंडोफिल एम 45 (0.25%), क्यूनॉलफॉस (0.05%) को बुवाई के 30–40 दिन बाद एवं 45–55 दिन बाद आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

कटाई, गहाई एवं भंडारणः कटाई का उचित समय जब नीचे की फलियाँ (संपुट/केप्सुल) पीली होने लगें अथवा पत्तियां पीली पड़ कर जब गिरना प्रारंभ कर दें। कटाई के उपरांत फसल को गड्ढों में बांधकर खेत में 8–10 दिन सूखने के लिए खेत में खड़ी रखें। सूखने के पश्चात पौधो से दाने/बीज को थ्रेशर द्वारा या लकड़ी के डंडों से पीटकर तिरपाल पर झड़ाई करनी चाहिए। झड़ाई के बाद फसल को साफ करके धूप में सुखा कर लगभग 7–8% नमी होने पर भंडार गृह में भंडारण कर सकते हैं।

बीज उत्पादनः तिल का बीज उत्पादन ऐसी भूमि पर करना चाहिए जिसमें तिल की फसल पिछले वर्ष ना लगी हुई हो। समत्तल, उपजाऊ भूमि या जहाँ जल भराव ना हो, ऐसी भूमि का चयन करना चाहिए। बीज उत्पादन वाले खेत के चारों तरफ 50 मीटर की दूरी तक तिल की दूसरी प्रजाति की फसल नहीं होनी चाहिए। खेत में खरपतवार, कीड़े एवं बीमारियों का प्रकोप नहीं होना चाहिये। समय–समय पर खेत का भ्रमण कर दूसरी किस्म के पौधों को हटा देना चाहिये। फसल के अच्छे से पकने के बाद बीज उत्पादन हेतु खेत के चारों तरफ 5 मीटर खेत छोड़ते हुए फसल काट कर अलग रखना चाहिए। फसल की मंडाई के उपरांत बीज को अच्छे से सूखने के बाद बीजों को प्रसस्कृंत करना चाहिए। प्रसंस्कृत बीजों को बीजोपचार के बाद उचित तरीके से भंडार गृह में भंडारण कर देना चाहिए। इन बीजों को किसान बुवाई के काम में ले सकते हैं।

उपज एवं आर्थिक लाभः तिल की खेती उन्नत विधियों से करने पर अच्छी फसल से 500–600 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर का उत्पादन असिंचित दशा में तथा 700–800 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की उपज सिंचित दशा में प्राप्त हो जाती हैं। सामान्य रूप से किसान 40–50 हजार रुपये प्रति हेक्टेयर के अनुसार शुद्ध लाभ प्राप्त कर सकता हैं।

निष्कर्षः तिल प्रति वर्ष बोया जानेवाला लगभग एक मीटर ऊँचा एक पौधा जिसकी खेती संसार के प्रायः सभी गरम देशों में तेल के लिये होती है। भारत में तिल दो प्रकार का होता है, सफेद और काला। तिल की दो फसलें होती हैं, कुवारी और चौती। कुवारी फसल बरसात में ज्वार, बाजरे, धान आदि के साथ अधिकतर बोई जाती हैं। चौती फसल यदि कार्तिक में बोई जाये तो पूस–माघ तक तैयार हो जाती है। बुन्देलखण्ड में तिल की खेती की अपार सम्भावनाएं हैं और वैज्ञानिक पद्धति से उच्च उत्पादन नवीन किस्मों के प्रयोग से इसकी उत्पादकता को और उत्कृष्ट बनाया जा सकता है।

एक कहावत है – 'उत्तम करें कृषि, मध्यम करें व्यापार और सबसे छोटे करें नौकरी' ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि कृषि करने वाले लोग प्रकृति के सबसे करीब होते है ओर जो प्रकृति के करीब हो वह तो ईश्वर के सबसे करीब होता है।

कृषि में व्यवसाय की असीम सम्भावना है, लेकिन बहुत से लोग इसे छोटा मानते है। जिसके कारण इसमें ज्यादा पैसा नहीं लगाना चाहते। लेकिन आपने भी बहुत से ऐसे किसानों, पशुपालन करने वालों के बारे में सुना होगा जो लाखों कमा रहे है।

नुकसान से निपटने में सबसे जरूरी चीज है उससे मिलने वाले सबक को न भूलना। वो आपको सही मायने में विजेता बनाता है।

वर्षा आधारित एवं जल संकटग्रस्त क्षेत्रों के लिये उपोष्ण बागवानी की नवीनतम प्रौद्योगिकियाँ

सुशील कुमार शुक्ल, घनश्याम पांडेय एवं अजय कुमार त्रिवेदी

सारांश : हमारे देश में अब भी लगभग 85 मिलियन हेक्टेयर कृषि क्षेत्र (60 प्रतिशत) असिंचित है। वर्तमान में आजादी के इतने वर्षों बाद भी हमारी अर्थव्यवस्था काफी हद तक मानसून पर निर्भर करती है। यद्यपि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान अब घट कर लगभग 15 प्रतिशत हो गया है। जबकि कृषि क्षेत्र के कुल उत्पाद में बागवानी फसलों का योगदान 30 प्रतिशत से भी अधिक है। इससे कृषि क्षेत्र के विकास में बागवानी के महत्व का पता चलता है। बागवानी के क्षेत्र में रोजगार के सृजन की असीम सम्भावनायें हैं। देश के 11 राज्यों से लगभग 21 जिलों को शुष्क एवं 104 जिलों को अर्ध–शुष्क क्षेत्र चिन्हित किया गया है। ये जिले भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों यथा राजस्थान, गुजरात, पंजाब, हरियाणा, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु एवं दिल्ली में स्थित हैं। एक अनुमान के अनुसर, भारतवर्ष की जनसंख्या वर्ष 2030 तक 152 करोड़ और वर्ष 2050 तक 170 करोड़ होने की सम्भावना है। इसके फलस्वरूप खाद्यान्न, दलहन और तिलहन की आवश्यकता और बढ़ेगी। स्वाभाविक रूप से सिंचित क्षेत्रों में अच्छी उपजाऊ भूमि को इन फसलों के उत्पादन हेतु प्रयोग करना मजबूरी होगी। लेकिन असिंचित और वर्षा आधारित क्षेत्रों की जल संकटग्रस्त भूमियों में बागवानी फसलों को प्रोत्साहन एक सशक्त विकल्प हो सकता है। इस माँग की पूर्ति वर्षा आधारित और असिंचित (बारानी) क्षेत्रों में उन्नत कृषि एवं बागवानी तकनीकें अपनाकर क्षेत्र का टिकाऊ विकास किया जा सकता है।

परिचय : वर्षा आधारित/असिंचित क्षेत्रों की मुख्य समस्यायें

1. इन क्षेत्रों में सिंचाई हेतु पानी की भारी कमी है। गहरे जल पटल की भी समस्या है। शुष्क क्षेत्रों में भी कुछ अत्यधिक शुष्क क्षेत्र आते हैं जहाँ वर्षा 100 मिमी. से भी कम होती है अर्ध शुष्क क्षेत्रों में वार्षिक वर्षा 300 से 600 मिमी. से लेकर 700–800 मिमी. तक होती है। जिसमें से लगभग 60 प्रतिशत तक जुलाई से सितंबर (मानसून) के बीच ही होती है।
2. सामान्यतयः ऐसे जल संकटग्रस्त क्षेत्रों की भूमि बलुई, कंकरीली, पथरीली एवं अनुर्वर है। ऊबड़–खाबड़ भूमि की वजह से वर्षा का जल बहकर नष्ट हो जाता है।
3. बंजर भूमि की प्रचुरता, वनस्पतियों के अभाव के साथ ऐसी भूमि पर सरपत, काँस तथा कटीली झाड़ियों की प्रचुरता देखी जा सकती है।
4. ऐसे क्षेत्रों में ज्यादातर एक या अधिक से अधिक दो फसलें ही उगाई जा सकती हैं जिससे फसल सघनता न्यूनतम है। भूमि की उत्पादकता भी कम है।
5. भूमि में जीवांश की कमी है तथा मिट्टी की जलधारण क्षमता भी कम है।
6. आवारा (अन्ना) पशुओं, बंदर, नीलगाय तथा अन्य जंगली जानवरों की बहुत बड़ी समस्या है।
7. उपरोक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप, रोजगार के पर्याप्त अवसर न होने के कारण नवयुवकों का गाँवों से शहरों की ओर पलायन हो रहा है।

बागवानी फसलों के लाभ : खाद्यान्न फसलों की तुलना में बागवानी फसलें सीमांत, बंजर, बेकार भूमि और अर्ध शुष्क जलवायवीय क्षेत्रों में सफलता पूर्वक उगाई जा सकती हैं। कई बार यह देखा गया है कि बहुत अच्छी मिट्टी और प्रचुर मात्रा में पानी और खाद उपलब्ध होने पर फलों की गुणवत्ता पर विपरीत असर पड़ता है। किन्नु की उच्चतम गुणवत्ता अबोहर के शुष्क क्षेत्र में, संतरे और अनार की गुणवत्ता महाराष्ट्र के अल्पसिंचित क्षेत्रों में, बेर की गुणवत्ता राजस्थान और हरियाणा में एवं खिरनी की सर्वाधिक गुणवत्ता मध्य प्रदेश के चंदेरी (अशोकनगर) और आंवला की उच्चतम गुणवत्ता मध्य प्रदेश के पन्ना क्षेत्र में इसके कुछ सशक्त उदाहरण हैं।

- ❖ बागवानी फसलों से बेहतर उत्पादकता और शुद्ध लाभार्जन की अपार सम्भावनायें हैं।
- ❖ बेरोजगारी आज देश की बहुत बड़ी समस्या है। बागवानी फसलों से सम्बंधित विभिन्न क्रियाओं के कारण श्रमिकों की अधिक आवश्यकता होती है और रोजगार सृजन की बेहतर संभावनाएं हैं।
- ❖ पोषकीय सुरक्षा और पर्यावरण सुधार में फल और सब्जियों का विशेष महत्व है। फल और सब्जियाँ हमारे दैनिक भोजन में विटामिन और खनिजों की पूर्ति करते हैं और हमें विभिन्न बीमारियों से बचाते हैं।

भाकृअनुप–केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, रहमानखेड़ा, काकोरी, लखनऊ–226101

- ❖ बागवानी फसलों की जड़ों की बनावट तथा छत्र विकास से मृदा एवं जल संरक्षण में काफी सहायता मिलती है।
- ❖ यह एक तथ्य है कि वर्षा आधारित/असिंचित क्षेत्रों में खेती में विभिन्न कृषि रसायनों का प्रयोग काफी कम है और कृषि व्यवस्था पशुपालन आधारित ज्यादा है। ऐसी स्थिति बागवानी फसलों के जैविक उत्पादन हेतु एक आदर्श स्थिति मानी जाती है। लोगों को जानकारी एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण देकर और जैविक उत्पाद का प्रमाणीकरण कर उनकी आमदनी कई गुना बढ़ाई जा सकती है।

बागवानी विकास हेतु प्रौद्योगिकियां और उनका उपयोग

भूमि की क्षमतानुसार वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि वर्ग–I और वर्ग–II की भूमि खाद्यान्न और नकदी फसलों के लिये सर्वथा उपयुक्त होती हैं जबकि वर्ग–III और IV के अंतर्गत आने वाली भूमि को वाटरशेड तकनीक का प्रयोग करते हुए बागवानी फसलों के लिए प्रयोग करना सर्वथा हितकर होता है। वाटरशेड तकनीक का मुख्य उद्देश्य जल संरक्षण एवं मृदा संरक्षण हेतु वर्षा जल के बहाव की गति को कम करके, जल में मृदा के ह्रास को कम किया जाये तथा वर्षा की बूँदों को भूमि की सतह पर रोककर मिट्टी के साथ जल को संरक्षित किया जाये जिससे भूजल स्तर बढ़ने के साथ–साथ बाद में इसका उपयोग सिंचाई एवं अन्य कार्यों में आसानी से किया जा सकता है। सूखा प्रभावित और मरुस्थलीय क्षेत्रों में वाटरशेड (जल समेट) प्रबन्धन कार्यक्रम द्वारा फसल एवं पशुधन पर सूखे के प्रभाव को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

बुन्देलखण्ड में तेजपुरा वाटरशेड और गढ़कुंडार वाटरशेड के सफल प्रयोग किए गए हैं जिनसे न केवल किसानों की आय में वृद्धि हुई बल्कि भूमि के जल स्तर में सुधार, फसलों की उत्पादकता में वृद्धि, चारा फसलों का सफल उत्पादन एवं पशु पालन में भी मदद मिली। इनके अनुभव को सीख कर अन्य क्षेत्रों में फैलाने की आवश्यकता है। इसलिए जलसंकटग्रस्त क्षेत्रों हेतु वहाँ की फसल योजना इस तरह से बनाई जायें कि अधिकतम बायोमास का उत्पादन हो और इसके साथ ही अधिकतम उत्पादकता और आय सुनिश्चित की जा सके।

सामान्यतयः जलसंकटग्रस्त क्षेत्रों विशेषकर बुन्देलखण्ड में आवारा पशु, जंगली जानवर, सुअर एवं अन्य विभिन्न प्रकार के जंगली जीव–जंतु की प्रमुख समस्या रहती है। नये बागों की स्थापना के बाद शुरु के वर्षों में पौधों को आवारा पशुओं से बचाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। इसलिए बाग स्थापन प्रक्षेत्र को विकसित करने के साथ–साथ चारों तरफ घेर बाड़ की व्यवस्था अनिवार्य होती है। अगर कंक्रीट के खम्बों के साथ कंटीले तार की व्यवस्था की जाये तो बहुत महंगी पड़ती है। इसलिए ऐसी परिस्थिति में निर्मित बाग के चारों तरफ 1.5 मी. गहरी और 1.5 से 2.0 मी. चौड़ी खाई खोद कर अन्दर की तरफ जैवबाड़ के रूप में झरबेरी, बेर, करौंदा, बाँस, जंगलजलेबी, मेंहदी, विलायती बबूल, देशी बबूल, सुबबूल, यूफोरबिया, नागफनी इत्यादि के पौधों का रोपण किया जाना चाहिए। प्रगतिशील बागवान अगर बाग स्थापन पूर्व सोलर फेंसिंग की व्यवस्था कर सकें तो अति उत्तम है।

भूमि का अच्छी तरह आँकलन कर ढलान के अनुसार क्षेत्र को वाटरशेड के रूप में विकसित किया जाना चाहिए जिससे पानी की एक–एक बूँद को संरक्षित कर पौधों की क्रांतिक अवस्थाओं में सिंचाई सुनिश्चित किया जा सके। सीढ़ीदार खेत अथवा कन्टूर विधि को अपनाते हुए फल वृक्ष रोपण किया जाना चाहिए। माइक्रो कैचमेंट, मेंड़ों के साथ नाली, वृक्ष के थालों के चारो तरफ नाली और पलवार, अर्ध–चंद्राकार थाले आदि का प्रयोग जल संरक्षण में सहायक होता है। इससे शुरुवात में न केवल बाग स्थापन में मदद मिलती है बल्कि बाद के वर्षों में फल वृक्षों से गुणवत्तायुक्त उत्पादन भी सुनिश्चित होता है। ऊबड़ खाबड़ पर्वतीय क्षेत्रों में कंटूर के साथ नाली, अर्ध चंद्राकार थाले और रोपण की त्रिकोणीय प्रणाली जल संरक्षण में काफी मददगार साबित होती है।

भूमि की ढलान के अनुसार समतल, सीढ़ीनुमा अथवा कंटूर विधि द्वारा, सामान्य भूमि से 15–20 प्रतिशत कम दूरी पर गड्ढे खोदे जाने चाहिए। यदि भूमि बलुई है तो 50x50x50 सेमी. तथा कंकरीली होने पर एक या सवा मीटर (1 मी. x 1 मी. x 1 मी) आकार के गड्ढे खोदे जाने चाहिए। अगर कोई चट्टान आदि हो तो उसे निकालना आवश्यक है। इन गड्ढों में जून के महीने में गोबर की खाद तथा नीम की खली मिलाकर भरायी की जानी चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में तैयार गड्ढों में वर्षा आरम्भ होने के साथ रेखांकन अनुसार फल वृक्षों का रोपण किया जाना चाहिए।

हम जानते हैं कि गहरे और विस्तृत मूल तंत्र के कारण बीजू पौधे कलमी पौधों की अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु होते हैं। अतः उचित यह होगा कि रेखांकन अनुसार गड्ढों की भराई करके फलों या मूलवृंत के बीज सीधा खेत में बोए जाएँ अथवा एक वर्ष आयु के बीजू पौधे रोपित कर दिये जायें। इनकी स्थापना के बाद चयनित फल वृक्षों की चयनित किस्मों के मातृवृक्षों से सांकुर शाख लेकर कलिकायन या कलम बन्धन द्वारा इनका प्रत्यारोपण बीजू पौधों पर सफलतापूर्वक कर दिया जाये। इस प्रकार स्वस्थाने प्रत्यारोपण करके अच्छे बाग की स्थापना की जा सकती है। ऐसे पौधों की मिट्टी और जलवायु की विपरीत परिस्थितियों को आसानी से सहन कर लेते हैं। शोध द्वारा ये सिद्ध हो गया है कि एक वर्ष में आंवले के बीजू पौधों की जड़ें एक मीटर की गहराई तक भी जाती देखी गई हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में देशी बेर और झरबेरी की झाड़ियों को काट छांट कर नये कल्ले निकलने पर उन्नत किस्मों का शिखर प्रत्यारोपण कर देशी और अनुपयोगी वृक्षों और झाड़ियों को एक उन्नत एवं उत्पादक वृक्ष बनाया जा सकता है। ऐसे पौधे दो से तीन

वर्ष में ही अच्छा उत्पादन देने लगते हैं क्योंकि इनका मूल तंत्र अच्छी तरह प्रतिकूल भूमि और जलवायुवीय परिस्थितियों के सानुकूल होता है।

शुष्क क्षेत्रों में भूमि खुली रहने पर पानी की उर्वर भूमि से जल का वाष्पीकरण तेजी से होता है। परिणामतः सतह की उर्वर भूमि का क्षरण होता रहता है। अतः उचित होगा कि वर्ष में अधिक से अधिक समय तक भूमि फसलों से आच्छदित रहे। फल वृक्षों के बीच में समयानुसार अन्तराशस्य फसलें उगाना चाहिए। बरसात में लोबिया, मूँग आदि की निरन्तर खेती करते रहने से भूमि की उर्वरा शक्ति एवं भौतिक दशा में निरन्तर सुधार होता है। अर्न्तसस्य के रूप में फल, सब्जियाँ, अलंकृत, औषधीय तथा सगन्ध पौधों की खेती लाभकारी पाई गयी है।

वर्षाधारित क्षेत्रों में सिंचाई एवं जल प्रबंधन

जल संकट्ग्रस्त क्षेत्रों में भूमि की जल धारण क्षमता भी अक्सर अच्छी नहीं होती है। पानी का वाष्पीकरण तेजी से होता है। ऐसी दशा में सामान्य भूमि की अपेक्षा कम अन्तराल पर हल्की सिंचाई करते रहना चाहिए। नाली द्वारा सिंचाई की अपेक्षा टपक विधि (ड्रिप प्रणाली) से सिंचाई करने पर लगभग 40 प्रतिशत पानी की बचत के साथ–साथ खरपतवार की समस्या का निदान हो जाता है। अतः इस विधि को प्रोत्साहित किये जाने की आवश्यकता है। टपक सिंचाई एक महंगी विधि है, इसकी जगह पिचर (घड़ा) सिंचाई भी लाभकारी पाई जा रही है। इस विधि में 15–20 लीटर आकार के मिट्टी के घड़े को भूमि में दबा देते है, इसी में पानी भरकर पत्थर से ढक दिया जाता है, रिसाव द्वारा जल श्रवित होकर आवश्यकतानुसार नमी बनी रहती है। इसे व्यापक बनाने की आवश्यकता है। साथ ही साथ रोपण के बाद थाले में 15–20 सेमी. मोटी पलवार हेतु केले की पत्ती, पुवाल, ईख की पत्ती, घास–फूस तथा अन्य जैविक पदार्थ काफी लाभप्रद पाया गया है। इससे वाष्पीकरण प्रक्रिया अवरूद्ध हो जाती है। खरपतवार नहीं पनपते तथा निरन्तर इसके उपयोग के कारण जीवांश की मात्रा में वृद्धि होती रहती है। अतः अवरोधपर्त तथा टपक सिंचाई के साथ करने से आशातीत सफलता की प्रबल सम्भावनायें हैं।

फल वृक्षों एवं उन्नत किस्मों का चयन

ऐसे वृक्ष जिनमें गहरा तथा विस्तृत मूलतन्त्र, चिकनी पत्तियाँ एवं धंसे हुए रंध्र हों, असिंचित तथा शुष्क/अर्ध शुष्क क्षेत्रों के लिये उपयुक्त पाये गये हैं। पुष्पन तथा फलन अपेक्षाकृत नम मौसम में, प्रसुप्तावस्था ग्रीष्म ऋतु में हो, तो अच्छा रहता है। उदाहरण के लिये अमरूद, शरीफा, बेल, कैथ, लसोढ़ा, बेर, आंवला, महुआ, खजूर, खिरनी, चिरौंजी, इत्यादि। गत वर्षों में शोध द्वारा ऐसे फलों जिनकी बारानी क्षेत्रों में व्यावसायिक काश्त की प्रबल सम्भावनायें हैं, की विभिन्न उन्नत किस्मों का विकास विभिन्न संस्थानों द्वारा किया गया है। इन्हें लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता है। ये किस्में अधोलिखित हैं :

(क) कम पानी चाहने वाली:–

कागजी नींबू – प्रमालिनी, विक्रम, एन आर सी सी नींबू–7 एन आर सी सी नींबू–8

संतरा – किन्नो, नागपुर मेन्ड्रिन

मौसम्मी – मोसम्बी, पाइन एपल, वैलेंसिया, कटर वैलेंसिया, हैमलिन

आम – मल्लिका, केसर (बांसवाड़ा क्षेत्र में आम की मल्लिका किस्म और महाराष्ट्र के शुष्क और पथरीले क्षेत्रों में केसर की खेती सफलता पूर्वक की जा रही है)

लेमन – पंत लेमन, स्थानीय प्रजातियाँ

चिरौंजी – थार प्रिया, स्थानीय चयनित किस्में

अनार – भगवा, सुपर भगवा, गोमा खट्टा, जालौर सीडलेस, जी–137, गणेश, जोधपुरी रेड, ज्योति

जामुन – गोमा प्रियंका, जामवंत (सी.आई.एस.एच. जे–37), कोंकन बहडोली, राजामुन, पारस

अंजीर – पूना फिग, डायना, एक्सेल

कटहल – कोंकन प्रोलिफिक, बारामासी, स्वर्णपूर्ति, जी–11, जी 65 ए, रुद्राक्षी, स्थानीय किस्में

सहजन – स्थानीय प्रजातियाँ, पी के एम–1, पी के एम–2, थार हर्ष

(ख) सूखा सह सकने वाले उपयुक्त फल एवं उनकी किस्में:–

बेर – गोला, बनारसी कराका, उमरान, कैथली, पोंडा, सेब, एप्पल बेर, गोमा कीर्ति, थार सेविका, थार भुभराज

अमरूद – इलाहाबाद सफेदा, लखनऊ 49, ललित, श्वेता, धवल, लालिमा, पंत प्रभात, वी एन आर ग्वावा, थाई ग्वावा

आँवला – लक्ष्मी–52, कंचन, कृष्णा, नरेन्द्र आंवला–6, नरेन्द्र आंवला–7, नरेंद्र आंवला–10, गोमा ऐश्वर्या, आनंद–2, बी एस आर–1

जामुन – जामवंत (सी.आई.एस.एच. जे–37), सी.आई.एस. एच.जे.–42, गोमा प्रियंका, कोंकण बहडोली

शरीफा – बालानगर, अर्का सहन, सरस्वती–7, स्थानीय प्रजातियाँ

बेल – नरेन्द्र बेल–5, नरेन्द्र बेल–9, सी.आई.एस.एच. बी–12, पंत सुजाता, पंत अपर्णा, पंत उर्वशी, गोमा यशी, थार दिव्या, थार नीलकंठ।

इमली – स्थानीय किस्में, प्रतिष्ठान, योगेश्वरी, स्वीट टैमरिंड, डीटी–1, डीटी–28, मनीला टैमरिंड, अनंत रुधिरा

खिरनी – अशोक नगर से स्थानीय प्रजातियाँ, थार ऋतुराज

करौंदा – स्थानीय सफेद–गुलाबी एवं हरी–लाल प्रजातियाँ, पंत मनोहर, पंत सुदर्शन, पंत सुवर्णा, स्वीट टाइप (वेंगुरले)

शहतूत – सफेद, लाल एवं काला

लसोढ़ा – स्थानीय प्रजातियाँ, थार बोल्ड

फालसा – स्थानीय प्रजातियाँ, विशेषतया शहरों के आस–पास

कैथ – स्थानीय प्रजातियाँ

(ग) फल आधारित बहु–स्तरीय उत्पादन

वर्तमान में धीरे–धीरे जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ वर्ष में एक या दो फसलों की खेती लाभकारी सिद्ध नहीं हो रही है। भूमि एवं अन्य संसाधनों के बेहतर उपयोग हेतु, मृदा उर्वरता बनाये रखने और टिकाऊ उत्पादन हेतु बहु स्तरीय फसल उत्पादन प्रणाली आज की आवश्यकता हो गई है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न है।

द्विस्तरीय फसल प्रणाली : आंवला–बेर या आंवला–अमरूद या आंवला– नींबू वर्गीय फल या आंवला– अनार

त्रि–स्तरीय फसल प्रणाली : आंवला, बेर, अमरूद, नींबू वर्गीय फल, अनार, फालसा

दलहनी फसलें/सब्जियाँ : टमाटर, बैंगन, मिर्च, उर्द, मूँग, मसूर, लोबिया, मटर, सगंधीय फसलें : लेमनग्रास, पामारोजा ग्रास , पचौली, खस (किस्म–सीमेप–वृद्धि) इत्यादि

औषधीय फसलें : अश्वगंधा, सर्पगंधा, सतावर , सम्भालू, गुग्गल, मामफल, घृतकुमारी

अन्य फसलें : हल्दी, अदरक, फर्न, गिनी घास (पैनिकम ग्रास)

जैविक खेती को प्रोत्साहन

शुष्क एवं अर्ध शुष्क क्षेत्रों में पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था के कारण गौ–पालन के साथ–साथ गोबर एवं गौमूत्र का विभिन्न जैविक उत्पादों जैसे जीवामृत, घन जीवामृत, बीजामृत, मटका खाद, अमृतपानी, काऊ पैट पिट, वर्मीवाश, वर्मीकम्पोस्ट आदि बनाने की असीम सम्भावनायें हैं जिससे इन क्षेत्रों में रसायनों के कम प्रयोग होने के कारण कृषि एवं बागवानी फसलों का जैविक उत्पादन सफलतापूर्वक किया जा सकता है और ऐसे सभी उत्पादों का प्रमाणीकरण कर किसानों की आमदनी को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लोग अपने गौ–पशुओं को अनुत्पादक होने पर आवारा नहीं छोड़ेंगे जिससे आवारा पशुओं की समस्या का भी काफी हद तक निदान किया जा सकता है। बुन्देलखण्ड में बहुत सारी जड़ी बूटियों की खेती की असीम सम्भावनायें हैं। प्राकृतिक जंगलों से इन जड़ी बूटियों के निरंतर दोहन से काफी बहुमूल्य जड़ी बूटियां समाप्त प्रायः हो चुकी हैं। लेमनग्रास, पामारोजा ग्रास, खस (किस्म–सीमेप–वृद्धि) आदि की पौध सामग्री हेतु वै औ अ प – सी एस आई आर – केन्द्रीय औषधीय एवं सगंध पौधा संस्थान, लखनऊ से सम्पर्क करके इन फसलों की व्यावसायिक खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। इन फसलों की व्यावसायिक खेती के साथ मृदा क्षरण को भी आसानी से नियंत्रित किया जा सकता है।

निष्कर्ष : भविष्य में वर्षाधारित जल संकट्ग्रस्त क्षेत्रों में बागवानी विकास हेतु महत्वपूर्ण सुझाव

1. तहसील एवं खंड स्तर पर विभिन्न प्रकार की भूमियों के बारे में आंकड़े एकत्र करना।
2. मिट्टी के प्रकार एवं गुणवत्तानुसार विभिन्न जनपदों/तहसीलों/खंडों के लिए फल वृक्ष आधारित मॉडल तैयार करना।
3. स्थानीय जैव अवशेषों एवं गायों के गोबर का प्रयोग कर जैविक कंपोस्टिंग, जीवामृत, अमृतपानी, मटका खाद, वर्मीवाश आदि बनाकर जैविक खेती को प्रोत्साहन।
4. फलों की उन्नत किस्मों की पौध की पर्याप्त आपूर्ति हेतु युवाओं को उचित प्रशिक्षण, पौधशाला पंजीकरण एवं उन्नत किस्मों के मातृखंडों की स्थापना के साथ–साथ पौधशाला विकसित करके स्थानीय पौध आपूर्ति को सुनिश्चित करना।
5. फलोत्पादन तकनीक, फलों की मूल्य श्रंखला प्रबंधन एवं फल परिरक्षण में युवाओं और कृषि से जुड़ी महिलाओं का नियमित प्रशिक्षण।
6. पौधशाला, फलों एवं सब्जियों की तुड़ाई और तुड़ाई उपरांत प्रबंधन, मूल्य वर्धन एवं भंडारण में महिलाओं का विशेष प्रशिक्षण।
7. फसल उत्पाद के लिए उचित बाजार व्यवस्था–कृषक उत्पादक संघ, कृषक उत्पादक कम्पनी की स्थापना।
8. फलों की खेती में शुरुआत में होने वाला व्यय अधिक होता है इसलिए अनुदान की भी उचित व्यवस्था।
9. आवारा (अन्ना) पशुओं जैसे, गाय, सांड़, नीलगाय, बंदर आदि का अत्यधिक प्रकोप है, इसलिए किसान के हित में उचित नीतिगत निर्णय लेकर उन्हें क्रियान्वित करने की आवश्यकता है।
10. सोलर पम्प की तरह सोलर फेंसिंग हेतु अनुदान आदि की व्यवस्था की जानी चाहिये।
11. किसी भी योजना के सफल होने के लिये गैर सरकारी संस्थाओं के माध्यम से लोगों का जुड़ाव आवश्यक है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में फल उत्पादित फसलों में लगने वाले प्रमुख कीट एवं उनकी रोकथाम

सुन्दर पाल

सारांश : बुन्देलखण्ड क्षेत्र अर्ध–शुष्क क्षेत्र के अंतर्गत आता है। यहाँ पर अधिकतर क्षेत्रफल में दलहनी एवं तिलहनी फसलों को उगाया जाता है। यहाँ पर अधिकतर वर्षा आधारित कृषि होती है। फलों के उत्पादन में क्षेत्र प्रगति की ओर अग्रसर है। अमरुद, अनार, आंवला, नींबू, बेल, और जामुन यहाँ की प्रमुख फसलें है। इन फसलों में मुख्यतः फल मक्खी, छाल खाने वाली सुंडी, फल छेदक कीट, नींबू की सुंडी, बेर का भ्रृंग, कोंपल सूजन कीट सबसे ज्यादा नुकसान पहुँचा रहे है जबकि माहू, मिलीबग, फल चूसने वाली तितली, सफेद लट व दीमक आदि की उपस्थिति भी देखने को मिलती है। इन कीड़ों के द्वारा लगभग 45 से 70 प्रतिशत तक नुकसान होता है।

परिचयः विश्व में 700 मिलियन से अधिक लोग शुष्क और अर्ध–शुष्क क्षेत्रों में निवास करते है। जनसंख्या आयोग के अनुमान के अनुसार वर्ष 2050 तक विश्व की जनसख्या 9.7 बिलियन हो जाएगी। इसलिए, भविष्य की आबादी को खिलाने के लिए विशेष रूप से शुष्क क्षेत्रों में कृषि प्रणालियों में फसल उत्पादकता को बढ़ाना अति आवश्यक है। शुष्क कृषि क्षेत्रों में टिकाऊ कृषि और खाद्य सुरक्षा के लिए एकीकृत कीट प्रबंधन के मुख्य घटक, कीट समस्यायें और उनके अजैविक और जैविक कारकों की पहचान, उनके आर्थिक निर्णय स्तरों की पहचान, कुशल एवं उन्नत कीट निगरानी और पूर्वानुमान प्रणाली, फसलों में प्रतिरोधन क्षमता, फसल चक्र, सुरक्षा प्रौद्योगिकी जोकि पर्यावरण के अनुकूल हो, को अपनाना आदि है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में फलों का उत्पादन केवल 1. 35 प्रतिशत क्षेत्र पर ही हो रहा है। अमरुद, अनार, आंवला, नींबू, बेल, जामुन आदि की फसलें मुख्यतः बुन्देलखण्ड क्षेत्र में उगाई जा रही है। जिनमे कीट समस्या एक महत्वपूर्ण बिंदु है।

फलों में लगने वाले मुख्य कीड़े एवं उनकी रोकथामः

फल मक्खी (*बैक्ट्रोसेरा डोरसलिस*): यह मक्खीगण डिप्टेरा के टैफ्रिटिडाए परिवार से है जोकि आम, बेर, नींबू, अमरुद आदि फसलों को नुकसान पहुँचाती है। वयस्क घरेलू मक्खी से थोड़े से बड़े होते है। इनके ऊपर भूरे और पारदर्शी पंख होते है। इनके पैर पीले और वक्ष पर गहरे लाल और काले रंग के धब्बे होते है।

जीवन चक्रः मादाये फलों में 150 से 200 अंडे देती है जिनसे 10 से 13 दिनों में एक छोटा भुनगा बाहर आता है और फलों को अन्दर ही अन्दर खाकर नष्ट कर देता है। कोष अवस्था भूमि के अन्दर लगभग 8 से 13 सेंटीमीटर गहराई पर होती है और प्रौढ़ बनकर बाहर आते है।

क्षति के लक्षणः शुरूआती अवस्था में प्रभावित फलों में कोई खास लक्षण नहीं दिखाई देता है परन्तु बाद में फलों में सड़न के साथ बदबूदार पानी भी बाहर निकलता है। फलों को काटकर देखने पर उनमें छोटे–छोटे व पीले रंग के भुनगे दिखाई देते है। इस प्रकार फल मानव उपभोग के योग्य नहीं रह पाता।

रोकथाम के उपायः क्षतिग्रस्त फलों को इकठ्ठा करके भूमि में गहरा दबा देना चाहिए। फलों की तुड़ाई समय से करते रहना चाहिए। चीनी या गुड़ के घोल में मेलाथियान को मिलाकर छिडकाव करे। फेरोमोन ट्रैप का प्रयोग नर वयस्क को मारने के लिए करे।

छाल खाने वाली सुंडी (*इन्दर्बेला कुदरीनोटाटा*): इस कीट की कई प्रजातियाँ है जो फसलों को नुकसान पहुँचा रही है। यह कीट, गण लेपिड़ोप्टेरा के मेटार्बेलिडेए परिवार का सदस्य है। यह आंवला, बेर, नींबू, अमरुद, जामुन, अनार आदि फसलों पर नुकसान पहुँचाता है।

जीवन चक्रः इसकी मादायें पेड़ की छाल के नीचे लगभग 2000 अंडे जोकि 15 से 25 के समूह में देती है। अंडो से 8–10 दिनों में छोटी सुंडियाँ बाहर आती है और पूर्ण विकसित होने पर इनकी लम्बाई लगभग 50 से 60 मिली मीटर हो जाती है जोकि गहरे भूरे रंग की होती है। इसके व्यस्क शलभ सिर और वक्ष के साथ हल्के भूरे रंग के होते है। प्रथम जोड़ी पंखों पर पीले रंग की छोटी–छोटी धारियो होती है। एक वर्ष में एक ही पीढ़ी होती है।

क्षति के लक्षणः सुंडियाँ पेड़ के तनों या शाखाओं में छिद्र करती है और फिर टेढ़ा–मेढ़ा जाला बनाती हुई आगे बढ़ती रहती है। यह जाला बनाने के लिए कटी हुई लकड़ी एवं अपने मल–मूत्र का प्रयोग करती है। ये इन जालियों के नीचे ही रात्रि के समय पेड़ की छाल को खाती रहती है जबकि दिन के समय ये छिद्र में छुपी रहती है। इनके कारण पेड़ कमजोर पड़ जाते है जिससे इनकी मृत्यु हो सकती है।

रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविधालय, झाँसी–284 003, उत्तर प्रदेश, भारत

रोकथाम के उपायः कीड़े द्वारा बनाई गई जालियों को निकाल देना चाहिए। छेद में छुपी हुई सुंडियों को मारने के लिए लोहे की बनी कठोर व नुकीली तार को छेद में डालकर घुमाना चाहिए। रूई को डाईक्लोर्वोस 76 ई.सी. के 0.013 प्रतिशत घोल में भिगोकर छेद में डालकर मिट्टी से बंद कर देना चाहिए।

फल छेदक कीट (*विरचोला आइसोकारेट*) जीवन चक्रः नर व्यस्क चमकदार, नील बैंगनी जबकि मादाये भूरे बैंगनी रंग की होती है। मादायें फूलों की पंखुड़ियों पर एवं कोमल फलों पर, एक–एक कर, चमकदार अण्डे देती है। अण्डों से 7–10 दिनों में सुंडियाँ बाहर आती है जोकि 18–47 दिनों में गहरे भूरे रंग की, जिनके शरीर पर छोटे बाल और सफेद धब्बे हो जाते है। कोष अवस्था 7–34 दिनों की होती है जोकि फल के अंदर या कभी–कभी डंठल के साथ होती है। एक वर्ष में चार पीढ़ियाँ होती है।

क्षति के लक्षणः सुंडियाँ फलों के अन्दर छेद करके, बीजों को खाती रहती है जिसके कारण ऐसे फल जीवाणुओं और कवक से भी संक्रमित होते है। ये फल पेड़ से नीचे गिर जाते है और एक आक्रामक गंध देते है।

रोकथाम के उपायः क्षतिग्रस्त फलों को इकठ्ठा करके भूमि में गहरा दबा देना चाहिए। फलों को कागज से लपेट कर ढक देना चाहिए। अनार को अमरुद के साथ न लगाये।

नींबू की सुंडी (*पैपिलियो डिमोलस*): यह नींबू वर्गीय फसलों का मुख्य कीट है।

जीवन चक्रः तितलियाँ मार्च के महीने में दिखाई देती है और जो 2 से 5 दिनों में 75 से 120 अण्डे जोकि अधिकतर पत्तियों की सतह पर दिये जाते है। अण्डों से निकली सुंडियों का जीवन गर्मियों में 8–16 दिन और सर्दियों में 4 सप्ताह तक का होता है। ये दिखने में पक्षियों की विष्ठा के समान दिखाई देती है। कोष पौधे से दो रेशो से बंधा होता है और जिसका जीवन गर्मियों में एक सप्ताह और सर्दियों में 12–20 सप्ताह का होता है। एक वर्ष में 3–4 पीढ़ियाँ होती है।

क्षति के लक्षणः इसकी सुंडियाँ फसल को सबसे ज्यादा नर्सरी अवस्था में पत्तियों को खाकर नुकसान पहुँचाती है और जिसके कारण पौधों में फल नहीं लगते।

रोकथाम के उपायः इसकी सुंडियो को पकड़कर और कोषो को निकाल कर नष्ट कर देना चाहिए। जैव रसायन में बेसिलस थुरिन्जिएन्सिस का छिडकाव करे या नीम के बीजो के रस का 3 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करे।

बेर का भृंग (*एडोरेट्स पेलनेस और ए. नाइटिड्स*): यह कीट गण कोलियोप्टेरा के स्काराबाईडे परिवार का सदस्य है।

जीवन चक्रः यह अप्रैल– मई के महीने में दिखाई देता है। मादायें पोषक पौधे के पास भूमि में चिकने सफेद व लम्बाकार अंडे देती है। अंडों से 6–9 दिनों में भृंग बाहर आते है जोकि बरसात और सर्दिया, मिट्टी की बनी कोष में बिताते है। कीड़े की कोष अवस्था मिट्टी में ही परन्तु अगले वर्ष अप्रैल माह में होती है जोकि 11–12 दिन की होती है। एक वर्ष में केवल एक ही पीढ़ी होती है।

क्षति के लक्षणः केवल प्रौढ़ ही रात्रि के समय पत्तियों में गोल छेद कर नुकसान पहुँचाते है और जो कभी–कभी इतना ज्यादा होता है कि पेड़ बिना पत्तियों के दिखाई देता है। जिसके चलते पौधे फल उत्पादन नहीं कर पाते।

रोकथाम के उपायः प्रकाश प्रपंच का प्रयोग इसके प्रौढ़ को आकर्षित कर मारने में प्रयोग करे। बेर के पौधों के चारो तरफ गहरी जुताई करने से मिट्टी में छुपे भृंग को मारा जा सकता है। शाम के समय कार्बोरिल 50 डब्लू.पी. का 0.15 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करे।

कोंपल सूजन कीट (*बेटौसा स्टाईलोफोरा*): यह कीटगण कोलियोप्टेरा के थ्रिडिडाए परिवार का सदस्य है।

जीवन चक्रः कीट जून माह में दिखाई देते है और मादायें पत्तियों पर अंडे देती है। अंडे से एक सप्ताह में छोटी सुंडियाँ बाहर आती है। ये छेद बनाकर शाखाओं में रहती है। कोष अवस्था पत्तियों की सहायता से बनाये गये कक्ष में और जोकि 8–10 दिन का होता है।

क्षति के लक्षणः सुंडियाँ छोटी एवं मुलायम शाखाओं में छिद्र बनाकर रहती है। जिसके कारण कुछ समय बाद वहाँ पर सूजन सी होने लगती है और जो फूलकर सामान्य भाग की अपेक्षा बड़ा हो जाता है। इसके एक भाग पर छोटा छिद्र होता है जोकि एक जाले से ढका होता है।

रोकथाम के उपायः फसल तुड़ाई के बाद प्रभावित भागों की कटाई–छँटाई कर देनी चाहिए और सूजन वाले भाग को काटकर मिट्टी में गहरा दबा दे या जला दे।

माहू (अफिस प्रजातियाँ): यह कीट गण हेमिप्टेरा के अफिडीडाए परिवार का सदस्य है।

जीवन चक्रः माँहू कीट अनिषेचक व अधिकतर बच्चे पैदा करने वाले होते है। प्रौढ़ व अर्भक दोनों ही गहरे हरे रंग के होते है। एक मादा लगभग 27 से 31 बच्चें देती है और जो 8 से 10 दिनों में प्रौढ़ होकर बच्चे पैदा करने लगते है।

क्षति के लक्षणः इसके प्रौढ़ व बच्चें (अर्भक) दोनों ही पौधों के मुलायम भागों से रस चूसते है जिसके कारण पौधे के वह भाग मुरझाकर सूख जाते है और पौधों की फल पैदा करने की क्षमता कम हो जाती है।

रोकथाम के उपायः बुन्देलखण्ड में इसके चिरपरिचित प्रकृति दुश्मन चित्तीदार भृंगों के द्वारा इसकी जनसंख्या को बढ़ने नहीं दिया जाता। नीम के बीजों के रस का 5% घोल बनाकर छिड़काव करे या इमिडाक्लोप्रिड 70% डब्लू.जी. की 30—35 ग्राम मात्रा को एक लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करे।

निष्कर्षः बुन्देलखण्ड में फलोत्पादन में हमेशा ही एक समस्या रही है जिसका मुख्य कारण पथरीली भूमि, पानी की कमी एवं कीड़ों व बीमारियों का प्रकोप के साथ ही साथ किसानों की, फल उत्पादन को लेकर कम जागरूकता है। अधिकतर वो सभी कीड़ें जो फलों व पौधों के अन्दर रहकर नुकसान पहुँचाते है उनका नियन्त्रण कठिन होता है जैसे फल मक्खी, सूजन कीट व फल छेदक कीट आदि। कीड़ों की समस्या को दूर करने के लिए पारिस्थितिक सिद्धांतों पर आधारित एकीकृत कीट प्रबंधन का ही प्रयोग एक सफल और प्रभावी तन्त्र है। जैव रसायनों का प्रयोग ही फल वाली फसलों के लिए प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है।

किसान का जीवन सबसे आदर्श जीवन होता है जिसमें परिश्रम, त्याग और संतोष होता है।

❋❊❋❊❋

हमारी राह भले ही भयानक और पथरीली हो, हमारी यात्रा चाहे कितनी भी कष्टदायक हो, फिर भी हमें आगे बढ़ना ही है। सफलता का दिन दूर हो सकता है, पर उसका आना अनिवार्य है।

❋❊❋❊❋

श्रद्धा की कमी ही सारे कष्टों और दुःखों की जड़ है।

❋❊❋❊❋

असफलता कभी-कभी सफलता की स्तम्भ होती है।

❋❊❋❊❋

हम संघर्षों और उनके समाधान द्वारा ही आगे बढ़ते है।

❋❊❋❊❋

खेती के व्यवसाय में भी फायदा होता है, पर खेती करने का भी एक कायदा होता है।

❋❊❋❊❋

सबसे उच्च कोटि की सेवा ऐसे व्यक्ति की मदद करना है जो बदले में आपको धन्यवाद कहने में असमर्थ हो।

❋❊❋❊❋

जिव्हा को उसे व्यक्त करना चाहिए जो हृदय में है।

❋❊❋❊❋

यदि तुम्हारे पास लौह शिराएं है और कुशाग्र बुद्धि है, तो तुम विश्व को अपने चरणों में झुका सकते हो।

वर्षा आधारित क्षेत्रों में परवल की वैज्ञानिक खेती

हरपाल सिंह[1], अमित तोमर[2] एवं गौरव कुमार अहिरवार[3]

सारांश : भारतीय कृषि में सब्जियों का एक विशेष योगदान रहा है क्योंकि सब्जियाँ हमारे शरीर में अनेकों पोषक तत्वों की पूर्ति करती हैं। सब्जियों को कम समय में उगाकर अधिक आर्थिक लाभ लिया जा सकता है। हमारे देश में छोटे किसान जिनके पास कृषि योग्य भूमि कम ही है ऐसे में सब्जियों का उत्पादन कर अधिक धनोपार्जन किया जा सकता है। वर्षा आधारित क्षेत्रों में कम पानी चाहने वाली सब्जियों की खेती करके सब्जियों के उत्पादन को मुख्य व्यवसाय बनाया जा सकता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में वर्षा आधारित सब्जियों की खेती एक प्रमुख आजीविका का साधन बन सकता है, साथ ही किसानों की आय में वृद्धि की जा सकती है।

परिचय :

भारतीय कृषि में सब्जियों का एक विशेष स्थान है क्योंकि इनमें खनिज पदार्थों के साथ–साथ आवश्यक विटामिन्स भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। अर्थात् सब्जियाँ खनिज पदार्थों एवं विटामिन्स प्राप्त करने का उत्तम स्रोत है। अनाज वाली फसलों का जितना अधिक महत्व है उसमें कहीं ज्यादा सब्जियों के उत्पादन का महत्व व क्षेत्र काफी बृहद प्रतीत होता है। सब्जियों के बृहद क्षेत्र का आशय इस बात से है कि इनके उत्पादन के प्रकार जैसे बल्व वाली, पत्तियों वाली, जड़ वाली जो कि मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं इसी क्रम में बेल वाली सब्जियों का मानव स्वास्थ्य के लिए विशेष योगदान है। बेल वाली सब्जियों में परवल का एक अहम स्थान है। परवल (*ट्राइसेन्थस डायोइका*) जो कि कुकुरबिटेसी परिवार का एक अतिमहत्वपूर्ण शाकीय पौधा है। परवल का उत्पत्ति स्थान भारत है और यहीं से ही यह अन्य देशों में पहुँचा। शाकों में परवल का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह एक अत्यन्त गुणकारी लोकप्रिय सब्जी है। परवल शरीर के परिसंचरण तंत्र को शक्ति प्रदान करता हैं और पाचन शक्ति को भी बढ़ाता हैं।

परवल एक बहुवर्षीय बेल वाली सब्जी है। इसकी खेती देश के विभिन्न भागों में होती है परन्तु बुन्देलखण्ड क्षेत्र में इसकी खेती खरीफ में की जाती है। उत्तर प्रदेश के कई जिलों में इसकी खेती व्यावसायिक रूप से की जाती है जिसका क्षेत्रफल दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

यदि हम इसके पोषण मूल्यों की बात करें तो यह अत्यधिक पौष्टिक होता है एवं परवल के कच्चे फलों को सब्जी के रूप में खाया जाता है। इसके सेवन करने से मस्तिष्क, हृदय एवं रक्त प्रवाह हेतु अति लाभप्रद होता है। सुपाच्य होने के कारण यह कब्ज को दूर करने में प्रभावशाली है। खाँसी, बलगम को ठीक करने के अतिरिक्त यह मूत्रवर्धक एवं दस्तावर भी होता है। यह भारत के राज्यों जैसे आसाम, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में अत्यन्त लोकप्रिय है।

परवल को सब्जी के रूप में तो खाया ही जाता है साथ ही साथ इसकी पत्तियों एवं मुलायम तनों से सूप भी तैयार किया जा सकता है। वसा, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, मैग्नीशियम, फास्फोरस, सोडियम, तांबा एवं क्लोरीन आदि अलग अनुपात में पोषक तत्व पाये जाते हैं।

उन्नतशील किस्में– स्वर्ण रेखा, राजेन्द्र परवल– 1, 2, 3, फैजाबाद परवल– 1, 3, 4, स्वर्ण अलौकिक, सी.एच.ई.एस. संकर– 1, 2, नरेन्द्र परवल– 206, 207, 604।

जलवायु– परवल की खेती के लिए अधिकतर गर्म एवं आर्द्र जलवायु सर्वोत्तम मानी जाती है। विभिन्न क्षेत्रों में परवल की खेती आसानी से की जा सकती है। हमारे देश में इसे खरीफ के मौसम में प्रमुखतया उगाया जाता है। ऐसे क्षेत्र जिनमें औसत वार्षिक वर्षा 100–150 सेमी. होती है। वहाँ परवल को सफलता पूर्वक उगाया जा सकता है। इसको बहुवर्षीय फसल के रूप में भी उगाया जाता है। सर्दी के मौसम में परवल की बेल व जड़े सुसुप्तावस्था में चली जाती है जो अगले वर्ष में नये पौधे के रूप में वृद्धि करती जाती है एवं उचित तापमान मिलने पर लताओं पर कल्ले निकलने लगते हैं।

मृदा एवं मृदा की तैयारी– एक अच्छी फसल लेने को रेतीली मृदा या नदी के किनारे वाली मृदाऐं सर्वोत्तम मानी गई। चूंकि वर्षा आधारित क्षेत्रों में परवल को उगाया जाता है तो वर्षा के मौसम से पहले ही भूमि की तैयारी करनी चाहिए। वर्षा से पहले ही खेतों में मेढ़ बन्दी करके खेतों में नमी को संरक्षित किया जाता है। साथ ही साथ वर्षा जल का संचय खेत के निकट ही कर लेना चाहिए ताकि जरूरत पड़ने पर संचित जल का उपयोग सिंचाई के रूप में समय–समय पर किया जा सके। नमी के रहते ही कल्टीवेटर की सहायता से जुताई करके पाटा

[1]बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी, [2]रानी लक्ष्मीबाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी,
[3]शोध छात्र, सरदार बल्लभ भाई पटेल कृषि विश्वविद्यालय, मेरठ।

चलाना चाहिए फिर 1.5×1.5 मीटर की दूरी रखते हुए 30 सेमी. लम्बा, 30 सेमी. चौड़ा एवं 30 सेमी. गहरा गढ्ढा खोदकर छोड़ देना चाहिए फिर गढ्ढों में 4–5 किग्रा गोबर या कम्पोस्ट खाद व 100 से 150 ग्रा. डी.ए.पी. खाद को भर देना चाहिए।

खाद एवं उर्वरक– बहुवर्षीय फसल होने के नाते परवल को अतिरिक्त पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। उत्तर प्रदेश की मृदाओं में 200–250 क्विंटल गोबर की खाद के अतिरिक्त 50 किग्रा. नाइट्रोजन, 40 किग्रा. फास्फोरस एवं 40 किग्रा. पोटास प्रति हेक्टेयर देते हैं। परवल के खेत में अरण्डी की खेती से पौधों को बहुत लाभ पहुँचता है। यह दी गई नत्रजन की मात्रा को बेकार नहीं जाने देती, पौधा वर्ष भर उसी नत्रजन से काम चलाता रहता है।

बुआई– परवल के व्यावसायिक उत्पादन के लिए परवल को तना, कलमों द्वारा ही उगाया जाता है। अधिकांश कलम मादा, लताओं से ही लेते है और 5–15 प्रतिशत कलमें नर लताओं से लेते है जिससे परागण सुगम एवं उत्तम हो सके। कलमों वाली फसल से उपज अधिक मिलती है। अगस्त, सितम्बर में 1–1.5 मीटर लम्बी कलमें खेत में रोपित की जाती है। 4–6 हजार कटिंग्स या कलम एक हेक्टेयर क्षेत्र के लिए पर्याप्त रहती है। इस बात का ध्यान रहे कि 15–20 मादा कलमों के बीच में 2–4 नर पौधे अवश्य रोपित किये जाये। मादा फल अपेक्षाकृत छोटे आकार के होते है। फूल रौयेंदार व सफेद रंग का होता है।

सिंचाई एवं जल निकास– सिंचाई की मात्रा समय व मौसम पर निर्भर करती है। अगस्त एवं सितम्बर में रोपी गई कलमों को मानसून आने से पहले व समाप्त होने के उपरान्त सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है जबकि खरीफ की फसल के लिए सिंचाई करने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती। वर्षा न होने की स्थिति में सिंचाई जरूरत के अनुसार कर देनी चाहिए। फल–फूल आने के समय परवल को अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। वर्षा का पानी परवल के खेत में नहीं रूकना चाहिए अन्यथा पौधों की जड़े सड़कर पौधा मर सकता है।

काट–छाँट– फसल की कटाई के बाद परवल की लताओं को काटना, छाँटना अति आवश्यक होता है। सम्भवतः अक्टूबर–नवम्बर में लताओं की काट–छाँट करनी चाहिए। इस क्रिया में 20–30 सेमी. लम्बे तने का धागा छोड़ देते हैं।

सधाई– चूँकि परवल एक लता वाली सब्जी है, इसकी उत्तम व गुणात्मक फसल लेने के लिए इसको पंडाल तकनीक में तारों आदि पर सधाई करते हैं जिसके फलस्वरूप अन्तराशस्य क्रियायें भी आसानी से की जा सके एवं उपज भी अधिक ली जा सके।

पौध सुरक्षा

खरपतवार नियंत्रण– परवल की फसल उगाते समय विभिन्न खरपतवार उग आते हैं जिनको समय–समय पर साफ करते रहना चाहिए।

कीट नियंत्रण :

फल मक्खी– यह मक्खी परवल के फलों में छेद कर अन्दर घुस जाती हैं एवं फलों को खाकर नष्ट कर देती हैं। फल मक्खी फल के अन्दर ही अपने अण्डे देकर अपनी संख्या को भी बढ़ाती रहती है। फल सड़कर नीचे गिर जाते हैं कभी–कभी फल मक्खी परवल के फूलों को भी नुकसान पहुँचाती हुई भी पायी गयी है। कीट नियंत्रण के लिए प्रभावित फलों को तोड़कर नष्ट कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त 0. 05 प्रतिशत थायोडॉन का छिड़काव कर कीट नियंत्रण कर सकते हैं।

रोग नियंत्रण :

सफेद चूर्ण आसिता रोग– यह रोग फफूंदी द्वारा होता है जिसको ऐरीसाइफी सिकोरेसियेरस कहा जाता है। इस रोग में पुरानी पत्तियों की निचली सतह पर सफेद रंग के धब्बे बन जाते हैं। धीरे–धीरे ये धब्बे पूरी पत्तियों को अपनी चपेट में ले लेते है जिसके कारण पत्ती की सभी आवश्यक क्रियाएँ रूक जाती है फलस्वरूप पत्ती मर जाती है साथ ही साथ पौधों के अन्य भाग तनें एवं फूलों पर भी इसका आक्रमण बढ़ने लगता है। इस रोग के नियंत्रण हेतु 0.03 प्रतिशत कराथेन का प्रति सप्ताह छिड़काव करना चाहिए। इसके अलावा बाविस्टिन एवं बेनलेट का छिड़काव लाभप्रद होता है।

फलों की तुड़ाई– परवल में फलों को परिपक्वता के अनुसार ही तोड़ना चाहिए। फल जब कच्चे एवं मुलायम हो तभी परवल के फलों को तोड़ना चाहिए। उत्तर भारत में परवल को जुलाई–अगस्त में तोड़ने से अत्याधिक फल प्राप्त होते हैं।

उपज– परवल की उपज मृदा के उर्वरता सिंचाई के साधन, किस्म व प्रवर्धन के ऊपर निर्भर करती है। देशी किस्मों से लगभग 90–200 क्विंटल प्रति हेक्टेयर व संकर किस्मों से 300–400 क्विंटल प्रति हे. तक उपज प्राप्त होती है।

निष्कर्ष : परवल की खेती सब्जी फसल के रूप में की जाती हे. परवल के पौधे की उत्पत्ति भारत में हुई थी। भारत में लोग इसे नगदी फसल के रूप में उगाते हैं। परवल के पौधे लता के रूप में फैलकर बड़े होते हैं। इसके फल कद्दू वर्गीय श्रेणी में आते हैं। परवल का फल पौष्टिक और स्वास्थ्य वर्धक होता है। इसके फलों में विटामिन, कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन जैसे तत्व पाए जाते हैं। जो मानव शरीर के लिए लाभदायक होते हैं। परवल का उपयोग सब्जी, अचार और लड्डू बनाने में किया जाता है। भारत में इसकी खेती ओडिशा, बंगाल, बिहार, असम और उत्तर प्रदेश में बड़े पैमाने पर की जाती है। परवल की खेती आर्थिक दृष्टि से किसानों के लिए बहुत लाभदायक है।

असिंचित बुन्देलखण्ड क्षेत्र एवं कोरोना महामारी से बचाव के लिए अश्वगंधा की खेती

अभिषेक कुमार[1], एम.जे. डोबरियाल[1], मनीत राणा[2], ए.के. पांडे[1] एवं अनिल कुमार[1]

सारांश : अश्वगंधा [*विथानिया सोमनीफेरा* (एल)] एक आयुर्वेदिक औषधीय पौधा है, जिसे भारतीय जिनसेंग, गूजबेरी या सर्दियों की चेरी के रूप में जाना जाता है तथा सोलेनेसी परिवार का सदस्य है। यह एक बारहमासी पौधा है, जिसके गुणसूत्र की संख्या 2n = 48 है। यह भारत के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों जैसे राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के शुष्क भागों में व्यापक रूप से उगाया जाता है। इसमें व्यापक अनुकूलन क्षमता होती है, और समुद्र तल से 600 से 1200 मीटर तक उगाया जाता है। यह कम वर्षा वाले क्षेत्र में शुष्क पथरीली मिट्टी में भी विकसित हो सकता है तथा लगभग 40°C तापमान तक जीवित रह सकता है। इसका मुख्य पादप रसायन विथेनॉलहाइड एल्कलॉइड हैं। इसकी पत्तियों और बीजों के साथ मुख्य रूप से जड़ों में भी औषधीय गुण होते हैं। यह गठिया रोधी टॉनिक, कामोत्तेजक रसायन, दुर्बलता, चिंता, अवसाद, इत्यादि में औषधि के रूप में उपयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इसके द्वितीयक मेटाबोलाइट्स का महत्व तेजी से बढ़ रहा है, क्योंकि ये मानव स्वास्थ्य के लिए चिकित्सीय औषधीयों जैसे प्रतिरक्षा रोधी इत्यादि के अलावा विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में उपयोग किए जाते हैं। कोरोना महामारी से इस औषधीय फसल की अधिक माँग के अनुरूप बुन्देलखण्ड में इसके उत्पादन की असीम संभावनायें हैं। आवश्यकता इस बात की है हम इसे उत्कृष्ट कृषि तकनीकों का उपयोग कर न केवल गुणवत्ता युक्त अश्वगंधा का अधिक उत्पादन कर किसानों की आय में वृद्धि कर सकते हैं अपितु उपभोक्ताओं को उच्च औषधीय गुण से भरपूर उत्पाद मिल सकेंगें।

परिचय : अश्वगंधा फसल को सेकेंण्डरी मेटाबोलाइट्स के उत्पादन के लिए जाना जाता है, जो कि एल्कलॉइड है और स्टेरॉइडल लैक्टोन के रूप में औषधीय गुण के लिए जिम्मेदार होती है। पौधे की कई शाखाएँ होती हैं, (चित्र.1) जिसमें जड़ें मांसल टेपिंग भिन्न–भिन्न लंबाई में सफेद भूरा रंग का होता है, जिसका मुख्य औषधीय महत्व है। पौधे की ऊँचाई लगभग 120 सेमी. से भी अधिक होती है। पत्तियां आकार में अंडाकार होती हैं और इसमें एल्केलॉइड्स, विथेनाओलाइड्स, ग्लाइकोसाइड, ग्लूकोज और कई मुक्त अमीनो अम्ल होते हैं, जिनका महत्वपूर्ण औषधीय महत्व है। पत्तों में कृमिनाशक और ज्वरनाशक गुण पाए जाते हैं। फूल हरे रंग के होते हैं। परिपक्व फल नारंगी–लाल जामुन रंग के होते हैं, जो प्रकृति में मूत्रवर्धक होते हैं। जड़ों की पाउडर का उपयोग अल्सर, तथा टॉनिक और सूजन के साथ–साथ जीवाणुरोधी के रूप में किया जाता है। यह रक्त शर्करा के स्तर को कम कर सकता है, कॉर्टिकल को कम कर सकता है, मस्तिष्क के कार्य को बढ़ा सकता है, और चिंता और अवसाद के लक्षणों से लड़ने में मदद कर सकता है। यह सामान्य रूप से देर से होने वाली वर्षा ऋतु की फसल के रूप में उगाया जाता है, जिसकी खेती के लिए लगभग 60–75 सेमी. वर्षा भी उपयुक्त होती है। देर से होने वाली सर्दियों की बारिश पौधे की जड़ों के समुचित विकास के लिए अनुकूल होती है, यध्यपि।कि इसमें जल जमाब नहीं होना चाहिए।

चित्र 1: खेतो में अश्वगंधा का पौधा और अश्वगंधा का एकल पूरा पौधा

[1]रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, ग्वालियर रोड, झाँसी–284003 (उ.प्र.) भारत
[2]भारतीय चरागाह एवं चारा अनुसंधान संस्थान, ग्वालियर रोड, झाँसी–284003 (उ.प्र.) भारत

अश्वगंधा अल्प सिंचित क्षेत्र की फसल

पानी की आवश्यकता के बारे में अधिक समझने के लिए, संबंधित फसल की मिट्टी में नमी की स्थिति जानने की सलाह दी जाती है, क्योंकि यह सीधे सेकेंण्डरी मेटाबोलाइट्स के अलावा फसल के विकास से संबंधित है। अधिक वाष्पीकरण के साथ मिट्टी में पानी की कम उपलब्धता, फसल उत्पादकता को कम करता है। इस तरह पानी की कमी के परिणामस्वरूप फसल पर अजैविक दबाव होता है, जिससे कि शारीरिक, आणविक और जैव रासायनिक प्रक्रियाओं में विभिन्न तरह के परिवर्तन देखने को मिलते है, उदाहरण के तौर पर, पानी की कम उपलब्धता हार्मोन के प्रक्रियाओं में परिवर्तनों देखने को मिलता है। प्राथमिक मेटाबोलाइट्स और ऊर्जा संतुलन पर हानिकारक प्रभावों के अलावा, पानी का दबाव पौधे के विभिन्न भागों में द्वितीयक मेटाबोलाइट्स की मात्रा में परिवर्तन की भी रिपोर्ट पाई गई है। इसलिए इस अवधि में मिट्टी या पत्ती में पानी की मात्रा उपयुक्त होना जरूरी है। यह ज्ञात है कि पत्ती का क्षेत्र भी पानी के दबाव से संबंधित है, और पानी के अधिक दबाव में इसकी लगभग 30% तक कमी देखी गयी है। इसी तरह, अधिक पानी की कमी में क्लोरोफिल की मात्रा में भी लगभग 50% कमी पायी गयी है।पौधों के विभिन्न हिस्सों में पानी की कमी स्टेरायडस या सेकेंण्डरी मेटाबोलाइट्स में परिवर्तन पाया गया हैं। हम यह भी मानते हैं कि पानी के अधिक दबाव के कारण प्रकाश संश्लेषण में कमी होती है, जो कि लगभग 50% से अधिक घट जाती है। इसलिए पानी के दबाव की स्थिति में उपज के अनुपातिक रूप से बायोमास में कमी हो जाती है। कभी–कभी मिट्टी की नमी में कमी और दबाव के तहत अश्वगंधा के बायोएक्टिव यौगिकों में कमी देखने को मिलती है। अश्वगंधा एक ऐसी फसल है, जो जलवायु परिस्थितियों के आधार पर इसके संपूर्ण विकास के दौरान कुछ ही महत्वपूर्ण पूरक सिंचाई की आवश्यकता होती है, और अवशिष्ट नमी में उत्पादन कर्ता को अच्छी उपज प्रदान कर सकती है।

कोरोना महामारी के परिदृश्य में अश्वगंधा की महत्ता

आयुर्वेदिक चिकित्सा, दुनिया की सबसे पुरानी चिकित्सा प्रणालियों में से एक है, जो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। अश्वगंधा आयुर्वेदिक प्रणाली की बहुत ही प्रसिद्व जड़ी बूटी है, जो विशेष रूप से एक तंत्रिका टॉनिक और एडेपोजेन के रूप में विभिन्न प्रकार के रोग के लिए उपयोग किया जाता है। यह प्रतिरक्षा के स्तर को बनाए रखने में मदद करता है। अभी हाल ही में, भारत के आयुष मंत्रालय और सी.एस.आइ.आर ने एक महत्वपूर्ण उपाय और नैदानिक परीक्षणों की घोषणा की, जिसका उद्देश्य अश्वगंधा के उपयोग के साथ–साथ, गुडूची, यष्टिमधु एवं पीपली जिसको मिलाकर आयुष–64 का नाम दिया गया है। परीक्षण में यह पाया गया है कि अश्वगंधा में कुछ प्राकृतिक जैव रासायनिक यौगिक होते हैं, जो एक एंटी–वायरल के रूप में काम कर सकते हैं। यहाँ तक कि यह एंटी–कोरोनावायरस दवाओं के रूप में भी प्रभावित हो सकता है। शोधकर्ताओं ने अश्वगंधा के गुणों का उपयोग करते हुए, रोगी के शरीर में कोरोनावायरस का एंजाइम पैदा करने वाली एमप्रो (मुख्य प्रोटीन) जो विभाजित प्रोटीन है को लक्षित किया हैं, जो कोरोनावायरस की प्रतियाँ बनाने में मदद करते हैं। इस तरह यह कोरोनावायरस को रोकने में मदद कर सकता है।

फसल प्रबंधन

अश्वगंधा एफिड और हैडा बीटल जैसे कीटों से क्षतिग्रस्त होती है, जिसे 2 से 3 छिड़काव आजादिरेक्टिन 1% और फ्लेवोनोइड 6% छिड़काव से नियंत्रित किया जा सकता है। उच्च तापमान और आर्द्र परिस्थितियों में अंकुरन मृत्यु दर अधिक हो जाती है। रोग मुक्त बीजों के उपयोग से और कार्बोफ्यूरान की 2–2.5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से बुवाई से पहले बीजोपचार करके रोग को कम किया जा सकता है। अल्टरनेरिया लीफ ब्लाइट को मेनकोजेब (12.3%) के स्प्रे से सफलतापूर्वक नियंत्रित किया जा सकता है। आवश्यकता होने पर नीम, चित्रकमूल, धतूरा और गौमूत्र से तैयार जैव कीटनाशकों का छिड़काव किया जा सकता है। बीमारियों को नियंत्रित करने के लिए मिट्टी में नीम की खली का भी प्रयोग किया जा सकता है।

फसल की सही समय पर कटाई करनी चाहिए, ताकि सक्रिय तत्व और उत्पादन की बेहतर गुणवत्ता सुनिश्चित हो सके। आमतौर पर बुवाई के 150 से 180 दिनों के बाद फसल कटाई के लिए तैयार हो जाती है। अश्वगंधा पौधे की बुवाई के 120–130 दिनों के बाद फूल और फल देने लगते हैं। फसल की परिपक्वता का अंदाजा तब लगाया जाता है, जब पत्तियां सूखने लगती हैं, और फल पीले या लाल हो जाते हैं एवं पत्तियां गिरने लगती हैं। अश्वगंधा को सूखे मौसम में काटा जाना चाहिए न कि बारिश में या सुबह जल्दी जब जमीन पर ओस हो। जड़ों को नुकसान पहुंचाए बिना, पूरे पौधे को उखाड़कर कटाई की जाती है। पौधों को आसानी से उखाड़ने के लिए कटाई के समय मिट्टी में पर्याप्त नमी होनी चाहिए। फिर जड़ों को 1–2 सेंटीमीटर ऊपर स्टेम को काटकर अलग किया जाता है। जड़ों की मिट्टी को साफ करने के लिए पीटा जाता है एवं पतली, भंगुर पार्श्व जड़ों को तोड़ दिया जाता है। फिर जड़ को धोकर धूप या छाया में 10–12% नमी तक सुखाया जाता है। जड़ों को 7–10 सेमी. के छोटे टुकड़ों में काट दिया जाता है, फिर वर्गीकृत किया जाता है, और थैलियों में संरक्षित किया जाता है। व्यावसायिक खेती के तहत एक हेक्टेयर की फसल से औसतन अश्वगंधा की उपज लगभग 6–8 क्विंटल सूखे जड़ों के रूप में

और 50–75 किलो बीज प्राप्त किया जा सकता है। एक हेक्टेयर में अश्वगंधा फसल की खेती में लागत लगभग 10000 रुपये प्रति हेक्टेयर और 30000 रुपये प्रति हेक्टेयर की आमदनी हो सकती है, हालांकि, यह बाजार में एक निश्चित समय पर माँग और आपूर्ति पर भी निर्भर करता है।

निष्कर्ष और भविष्य की संभावनाएं

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अश्वगंधा एक नई फसल नहीं है, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खेती के प्रयास रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी में शुरू किये गये है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में किसानों के लिए अच्छी आय प्राप्त करने के लिए अच्छी कृषि तकनीकों के उपयोग से इसे अच्छी प्रकार उगाया जा सकता है। भले ही अश्वगंधा प्रकृति में बारहमासी है, लेकिन अच्छी खेती की तकनीकों के साथ–साथ जैवप्रौद्योगिकी या नैनोप्रौद्योगिकी के उपयोग से अधिक उपज प्राप्त की जा सकती हैं। हालांकि, पौधे की मुख्य सेकेंण्डरी मेटाबोलाइट्स एवं इसकी विविधता की दृष्टिकोण से फसल की वास्तविक प्रकृति के बारे में अधिक जानने के लिए जैव रासायनिक प्रक्रिया और आणविक प्रक्रियाओं को समझने के लिए अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। अतः अश्वगंधा का महत्व वर्तमान परिदृश्य को देखते हुये बुंदेलखण्ड में अच्छी कृषि तकनीकों के माध्यम से करने की प्रबल संभावनाये हैं।

भारतीय भाषाएं नदियाँ हैं और हिन्दी महानदी।

❋❊❋❊❋

हिन्दी देश के सबसे बड़े हिस्से में बोली जाती है।

❋❊❋❊❋

हमें इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करनी ही चाहिए।

❋❊❋❊❋

मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी बिना हमारा काम चल नहीं सकता।

❋❊❋❊❋

जैसे तिनका हवा का रूख बताता है वैसे ही मामूली घटनाएं भी मनुष्य के हृदय की वृत्ति को बताती हैं।

❋❊❋❊❋

जो पुरूष पवित्र होकर जगत् के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, वह चक्रवर्ती से भी अधिक सत्ता भोगता है।

❋❊❋❊❋

गलती स्वीकार कर लेना झाड़ू बुहारने के समान है, जिससे गंदगी का नामो-निशान तक नहीं रहता

– महात्मा गाँधी

बुन्देलखण्ड के शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में ड्रैगन फ्रूट आधारित कृषिवानिकी प्रणाली की संभावना

गरिमा गुप्ता[1] एवं दीपक मौर्य[2]

सारांश : भारत एक कृषि प्रधान देश है किन्तु भारत की विविध स्थलाकृति के कारण कुल कृषि क्षेत्र का 56% हिस्सा शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों के अंतर्गत आता है। विभिन्न कारणों से इन क्षेत्रों में कृषि आसान नहीं है किन्तु कृषि वानिकी इन क्षेत्रों के लिए वरदान है। किसी भी प्रणाली की स्वीकारता और सतत्ता के लिए आवश्यक है की समय के साथ उसमे आवश्यक बदलाव किये जायें और उनकी उपयोगिता देखी जाये। समय के साथ साथ कृषि वानिकी प्रणाली में नए नए आयाम जुड़ते रहे हैं। इन्हीं आयामों में कृषि–उद्यानिकी महत्वपूर्ण है, जिसमें कृषि फसलों के साथ उद्यान फसलों का भी उत्पादन किया जाता है। प्रस्तुत लेख में बुन्देलखण्ड की कृषि –जलवायु अनुरूप ड्रैगन फ्रूट आधारित कृषिवानिकी प्रणाली की संभावना पर चर्चा कि गई है।

"गर सुरक्षित कृषि और किसान होगा
तभी संरक्षित ये सारा जहाँन होगा"

परिचयः

भारत की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित है। भारत के सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 14% कृषि से आता है जबकि 60% आबादी कृषि एवं कृषि सम्बन्धी कार्यों में लगी हुई है। हरित क्रांति के बाद भारत ने अपने कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व सफलता हासिल की है किंतु, बढ़ती जनसंख्या का पेट भरने के लिए इसे और भी बढ़ाए जाने की आवश्यकता है। निश्चित रूप से प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं और इन्हें बढ़ाया नहीं जा सकता लेकिन इनके समुचित प्रबंधन से कृषि उत्पादन को अवश्य बढ़ाया जा सकता है।

भारत की कृषि भूमि का एक बड़ा भू–भाग लगभग 56% शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्र के अंतर्गत आता है। कुल कृषि उत्पाद का लगभग 40% उत्पादन इसी क्षेत्र से होता है, इसके बावजूद भी यह क्षेत्र सदा ही संसाधनों के अभाव में उपेक्षित रहा है। बुन्देलखण्ड इसी शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्र का हिस्सा है। इस क्षेत्र में कृषि की अनेक समस्याएं हैं जिसके कारण न केवल यहाँ के किसान गरीब है बल्कि उच्च गुणवत्ता युक्त खाद्य न मिल पाने के कारण कुपोषित भी हैं।

'कृषिवानिकी प्रणाली' इस तरह के शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों के लिए वरदान साबित हुई है। कृषिवानिकी के अंतर्गत मुख्य फसल के साथ–साथ इस तरह के फल, वृक्षों अथवा चारा फसलों का उत्पादन किया जाता है जिससे मुख्य फसल के उत्पादन पर इसका कम से कम प्रभाव पड़े और दोनों उत्पादनों से आय प्राप्त की जा सके। इसी कृषिवानिकी प्रणाली के अंतर्गत कृषि उद्यान वानिकी ऐसी प्रणाली है जिसमें कृषि फसल और वानिकी वृक्षों के साथ–साथ ड्रैगन फ्रूट का भी उत्पादन किया जा सकता है। ड्रैगन फ्रूट, इस प्रणाली के अंतर्गत बुन्देलखण्ड के शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों के लिए वरदान साबित हो सकता है।

ड्रैगन फ्रूट कैक्टस प्रजाति का लता वर्गीय पौधा है। इस कैक्टस प्रजाति के फल अत्यंत सुंदर होते हैं और इनका बाह्य रूप ड्रैगन के रूप में दिखाई देता है अतः इसे 'ड्रैगन फ्रूट' कहा जाता है। विश्व के कई देशों में इसे 'पिताया' के नाम से भी जानते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक इस पौधे का प्रयोग इसके सूंदर फलों के कारण सौंदर्यीकरण के लिए किया जाता था किंतु अब इस कैक्टस प्रजाति का प्रयोग इसके फलों को खाने के लिए किया जाता है। यह फलदार कैक्टस प्रजाति अब तक की सभी कैक्टस प्रजाति में सबसे सुंदर फूल देने वाली है। इसके फूल इतने खूबसूरत होते हैं कि इसे 'नोबल वूमेन' के नाम से भी जाना जाता है। इस फल का जूस स्वादिष्ट होने के साथ ही बहुत ही पौष्टिक भी होता है। इस फल के वृहद इस्तेमाल के कारण ही ऑस्ट्रेलिया, चाइना, इजराइल, मलेशिया, ताइवान, वियतनाम आदि देशो में अब यह नई फसल के रूप में उगाया जाता है।

ड्रैगन फ्रूट लता पौधा होने के कारण इसकी बेलों को चढाने के लिए सीमेंट के खम्भों का प्रयोग लिया जाता है। इन खम्भों की ऊँचाई ढाई से तीन फीट की होती है और ऊपरी शिरे पर गोल पहिये सी आकृति अथवा टायर लगाया जाता है जिससे इस पौधे की बेलें उस पर आसानी से फैल सकें। एक खम्भे के समीप चारों कोनों पर एक–एक पौधा लगाया जाता है। इस फसल की मुख्य विशेषता यह है कि एक बार लगा देने पर अगले 12 से 18 महीनों में फल आने प्रारम्भ हो जाते है और लगभग अगले 15 से 20 साल तक इसकी फसल को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार

[1]*रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय, झाँसी*
[2]*राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण एवं भूमि उपयोग नियोजन ब्यूरो, क्षेत्रीय कार्यालय, कोलकाता*

लगाने के अगले वर्ष से ही किसान को इससे आय होनी प्रारंभ हो जाती है और यह आय सतत् रूप से बनी रहती है।

कृषिवानिकी के अंतर्गत ड्रैगन फ्रूट खेती की संभावनायें एवं लाभः

1. ड्रैगन फ्रूट को किसी भी प्रकार की अच्छी जल निकास वाली मृदा में उगाया जा सकता है।
2. ड्रैगन फ्रूट को बहुत ही कम पानी की आवश्यकता होती है और यह महीनों तक बिना किसी अतिरिक्त सिंचाई के जीवित रह सकता है।
3. इसकी खेती में फसल प्रबंधन खर्च बहुत ही कम है अतः मुख्य फसल की खेती के साथ इसकी खेती आसानी से की जा सकती है।
4. ड्रैगन फ्रूट छाया अवरोधी फसल है अतः इसे खेत की मेड़ों पर कृषिवानिकी के अंतर्गत लगाए गए वृक्षों की छाया में भी आसानी से उगाया जा सकता है।
5. 'वंडर फ्रूट' होने के कारण शहरों में इसकी माँग ज्यादा है जिससे इसके फलों से अच्छी आमदनी प्राप्त की जा सकती है। अत्यधिक पौष्टिक होने के कारण इसके फलों का प्रयोग कुपोषण को दूर करने में भी किया जा सकता है।
6. ड्रैगन फ्रूट में फलन वर्ष में दो से तीन बार होता है, इस प्रकार पूरे वर्ष पर्यन्त किसान की आय का श्रोत बना रहता है। पौधों के तनो को काटकर जनन पदार्थ के रूप में बेचकर अतिरिक्त आय प्राप्त की जा सकती है।
7. पौधों की कटाई–छटाई के उपरांत प्राप्त अवशिष्टों को पशुओं के चारे के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। फूलों का प्रयोग सब्जी के रूप में भी किया जा सकता है।

आर्थिक लाभः एक आंकलन के अनुसार यदि 1 एकड़ में ड्रैगन फ्रूट की खेती की जाए तो लगभग 3000 खम्भे प्रति एकड़ लगाए जा सकते हैं। सामान्यतया एक खम्भे पर 4 पौधें चढ़ाये जाते हैं और एक पौधे पर औसतन 10 से 15 फल लगते हैं। इस प्रकार एक खम्भे से लगभग 40 से 60 फल प्राप्त किए जा सकते हैं। यदि औसतन प्रति खम्भे से 50 फल की प्राप्ति होती है तो 300 खंभों से कुल 15000 को फलों की प्राप्ति होगी। यदि औसतन 1 एकड़ से 10000 फलों की भी प्राप्ति होती है, और औसतन एक फल की न्यूनतम कीमत 30 रुपये भी मानी जाए तो लगभग मोटे तौर पर एक एकड़ से एक फलन में तीन लाख रुपए तक की आय प्राप्त की जा सकती है। यदि 1 साल में दो फलन माना जाए तो यह आय 6 से 7 लाख रुपए प्रति एकड़ तक हो सकती है। यदि कृषिवानिकी के अंतर्गत इसे 'बॉर्डर प्लांटेशन' के रूप में भी लगाया जाता है तो प्रति एकड़ लगभग 100 खम्भे लगाए जा सकते हैं और इस प्रकार प्रति एकड़ बॉर्डर प्लांटेशन से तीसरे साल से प्रतिवर्ष एक लाख से लेकर ढाई लाख रुपए तक अतिरिक्त की आय प्राप्त की जा सकती है।

निष्कर्ष : भारत में अभी ड्रैगन फ्रूट की खेती कुछ ही राज्यों में की जाती है, जिसमें महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु प्रमुख है। कम जागरूकता के कारण अभी इसकी खेती का क्षेत्रफल 100 हेक्टेयर से भी कम है, लेकिन जिस तरह से इस फल के विशिष्ट स्वाद, पोषक मान और औषधीय गुणों के कारण, लोगों में जागरूकता बढ़ रही है, आने वाले समय में इस फल की माँग बढ़ने की प्रबल संभावना है। अभी भारत इस फल की कुल खपत का लगभग 80% से ज्यादा थाईलैंड, मलेशिया, वियतनाम और श्रीलंका से आयात करता है। यदि इस फल की खेती भारत में की जाए तो इससे किसानों को न केवल अतिरिक्त आय का लाभ होगा बल्कि शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में कुपोषण की समस्या से भी निजात मिल सकती है। इसके साथ ही गल्फ देशों, यूरोपीय देशों और अमेरिका में इसके निर्यात की प्रबल संभावनाएं भी हैं।

नीचे खाद ऊपर बीज-कृषि में समझों यह चीज।
यदि करना है भू-संवर्धन, अपनाओं भू-जल संरक्षण।

*****

अच्छे नस्ल के पशुधन-कृषक का असली धन।
कृषि पशुधन एक संग-खेती के दोनों ही अंग।

लाभदायक सूक्ष्मजीवों का गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के परिदृश्य में योगदान

रविन्द्र कुमार, सुधीर कुमार, भूमेश कुमार, प्रेम लाल कश्यप, रवि शेखर, अंजु शर्मा एवं ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह

सारांश : गेहूँ (*ट्रिटिकम* प्रजाति) विश्व स्तर की एक महत्वपूर्ण खाद्यान्न फसल है जोकि विभिन्न वातावरणों जैसे अनेक प्रकार की जलवायु, भौगोलिक क्षेत्र एवं सिंचाई पद्धतियों व सिंचित से लेकर असिंचित विभिन्न प्रकार के जल उपलब्धता परिदृश्यों के बीच उगाई जाती है। यह करोड़ों लोगों का मुख्य खाद्य है। दुनिया में समस्त कृषित भूमि के लगभग छठे भाग पर गेहूँ की खेती की जाती है। गेहूँ विश्व के सभी प्रायद्वीपों में उगाया जाता है। गेहूँ विश्व की निरंतर बढ़ती जनसंख्या के लिए लगभग 20 प्रतिशत आहार कैलोरी की पूर्ति करता है। चीन के बाद भारत गेहूँ का दूसरा सबसे बडा उत्पादक देश है। गेहूँ खाद्यान्न फसलों के बीच विशिष्ट स्थान रखता है। कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन गेहूँ के दो मुख्य घटक हैं। गेहूँ में औसतन 11–12 प्रतिशत प्रोटीन होता हैं। भारत में गेहूँ अनेक राज्यों में उगाया जाता है जिनमें प्रमुखतः उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र आदि हैं। हमारे देश में वर्ष 2019–20 की अवधि में रिकॉर्ड 107–109 मिलियन टन गेहूँ का उत्पादन हुआ है।

परिचय :

सूखा प्रतिबल या तनाव सबसे विनाशकारी अजैव प्रतिबलों में से एक है जिसकी सघनता पिछले दशकों के मुकाबले बढ़ी है और जिसने विश्व खाद्य सुरक्षा को प्रभावित किया है। सूखा प्रतिबल का विस्तार साधारण–छोटी अवधि से विकट गम्भीर व लम्बें काल के सूखा प्रतिबल तक होता है। वर्ष 2050 तक सूखा प्रतिबल द्वारा 50 प्रतिशत से अधिक कृषित भूमि पर फसलों में गम्भीर पादप वृद्धि समस्याएं उत्पन्न होने की सम्भावना है। सूखा तनाव सरल शब्दों में पानी की कमी के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो नाटकीय रूपात्मक, जैव रसायनिक, शारीरिक और आणविक परिवर्तनों को प्रेरित करता है। ये सभी परिवर्तन पौधे की वृद्धि और फसल उत्पादन को कम करते हैं। खाद्य एवं कृषि संगठन के एक अध्ययन के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष लगभग 65 मिलियन हैक्टेयर से अधिक क्षेत्रफल में गेहूँ उत्पादन सूखा प्रतिबल से प्रभावित होता है। सूखा तनाव पौधों के किसी भी विकास के चरण में हो सकता है और स्थानीय वातावरण पर निर्भर करता है। सूखा प्रतिबल संसार में कृषि उत्पादकता के लिए प्रमुख बाधाओं में से एक है जिनकी भविष्य में और अधिक बढ़ने की प्रबल सम्भावना हैं। सूखा प्रतिबल का महत्व एवं पौधों में इसके प्रभाव को संक्षेप में चित्र संख्या 1 से समझा जा सकता हैं। सूखे के कारण फसलों में पानी की कमी हो जाती है, जो फसल की वृद्धि और विकास और पौधों में कई चयापचय प्रक्रियाएं, जैसे प्रकाश संश्लेषण और प्राथमिक चयापचय को प्रभावित करती है। गेहूँ का पौधा सूखा प्रतिबल के विरूद्ध बहुत ही संवेदनशील होता है विशेषतः पुष्पन और दाना भरने की अवस्था में। पारंपरिक चयन विधियों और आनुवांशिक अभियांत्रिकी सहित फसलों की सूखा सहिष्णुता में सुधार के लिए कई तरह की रणनीतियों का उपयोग किया गया है। सूखा तनाव सहिष्णुता एक जटिल लक्षण है, और हालांकि पौधे के सूखे तनाव प्रतिक्रियाओं में शामिल जीन की एक बड़ी संख्या की पहचान की गई है, फिर भी बड़े अंतराल अभी भी बने हुए हैं। उपयुक्त दृश्यप्रारूप (फीनोटाइप) का पता लगाना या तो एक साथ या क्रमिक रूप से क्षेत्र में कई पर्यावरणीय तनाव वाले पौधों के संपर्क में आने से जटिल होता है। हालांकि एक निश्चित ओवरलैप विभिन्न तनावों के लिए पादप शारीरिक प्रतिक्रियाओं में हो सकता है, अकेले प्रत्येक तनाव के लिए पौधे की प्रतिक्रियाएं या अन्य तनावों के साथ संयोजन में भिन्न हो सकते हैं। इसके अलावा, सूखे के तनाव के लिए पौधे की प्रतिक्रिया भी पौधे के विकास के चरण से विनियमित परिचय है।

चित्र–1 प्रतिशत सूखा प्रतिबल के पौधें पर सम्भावित प्रभाव से कुछ संशोधन उपरांत अनुवादित (स्रोतः हसनुजम्मन एवं साथी 2018)

भाकृअनुप–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001 (हरियाणा)

संक्षेप में गेहूँ के पौधों में सूखा प्रतिबल के कुप्रभाव इस प्रकार हैंः गंभीर और मध्यम जल तनाव के अंतर्गत कम कार्बन डाई ऑक्साइड की उपलब्धता के कारण कुल प्रकाशसंश्लेषण दर और पर्ण रंध्र चालन (स्टोमेटल कंडक्टैंस) कम हो जाता है। कुल घुलनशील शर्करा और प्रोलिन स्तरों में वृद्धि होती है। बहरहाल, पत्ती पानी की क्षमता, परासरण क्षमता, स्फीति परासरणी क्षमता (टर्गोर ऑस्माटिक पॉटेन्शियल) और सापेक्ष जल मात्रा में गिरावट आ जाती है। विकास, प्रकाश संश्लेषण, उपापचय प्रक्रिया, पोषक तत्व आत्मसात करने की दक्षता और गेहूँ के पौधों की उपज उल्लेखनीय रूप से सूखे के तहत कम हो जाती है। सूखे के लिए गेहूँ की प्रतिक्रियाएं रूपात्मक, शारीरिक, आणविक और जैव रासायनिक स्तरों पर विविध हैं। सूखे के सबसे आम परिणामों में से एक प्रतिक्रियाशील ऑक्सीजन प्रजातियों (आरओएस) और एंटीऑक्सीडेंट रक्षा के उत्पादन के बीच संतुलन की गड़बड़ी है जो आरओएस के अतिरेक के कारण पैदा होती है और जो ऑक्सीडेटिव तनाव प्रेरित करती है। यह स्टोमेटा, कार्बन डाई ऑक्साइड अंतः बहाव (इनफ्लो) को बंद करने और पत्ती आंतरिक कार्बन डाई ऑक्साइड की कमी के कारण होता है जो आरओएस बनाने और प्रकाश–श्वसन (फोटो–रेस्पिरेशन) को बढ़ाने के लिए अधिक इलेक्ट्रॉनों को निर्देशित करता है। ये आरओएस प्रोटीन, लिपिड और न्यूक्लिक एसिड को सीधे नुकसान पहुंचा सकते हैं जो अंततः पौधे की मृत्यु का कारण बन सकते हैं।

सूखा प्रतिबल सहनशीलता का महत्वः वर्ष 2030 तक वैश्विक जनसंख्या के 8 अरब से अधिक होने का अनुमान है, जो खाद्य उपलब्धता को सुरक्षित करने के लिए कृषि क्षेत्र की मुख्य चुनौतियों के अधिक गम्भीर होने की ओर संकेत करता है। पौधों की बढवार एवं अच्छी उपज प्राप्ति के लिए वैश्विक पानी की कमी एक प्रमुख चुनौती है। यह चुनौती 70 प्रतिशत से अधिक कृषि योग्य भूमि में फसल पैदावार को प्रभावित कर रही है। निकट भविष्य में सूखा प्रतिबल को अधिक महत्व मिलना तय है क्योंकि भोजन की निरंतर बढ़ती माँगों की पूर्ति करने के लिए कृषि गतिविधियाँ कम उपजाऊ क्षेत्रों तक विस्तार लेंगी। अतः वर्तमान एवं भविष्य की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सीमित जल उपलब्धता के अन्तर्गत पौधे की उत्तरजीविता और विकास को समझना व इसके अन्तर्गत अधिक उपज के लिए सुधार करना समकालीन पादप विज्ञान में मुख्य महत्व का है।

लाभदायक सूक्ष्मजीवों का सूखा प्रतिबल सहनशीलता में योगदानः लाभदायक सूक्ष्मजीवों के कुशल प्रयोग से पौधों का स्वास्थ्य प्रबन्धन करना एक ऐसा विषय है जिसमें हाल ही में रूचि बढ़ी है। सामान्यतः कृषि में प्रयुक्त सूक्ष्मजीवों में *राइजोबियम, माइकोराईजा, एजोस्पाईरिलम, बैसिलस, स्यूडोमोनास, ट्राईकोडर्मा, स्ट्रेप्टोमाईसिस* एवं अन्य कई सूक्ष्मजीव प्रजातियाँ शामिल हैं। पौधों के आस–पास के पारिस्थिकी में अनेको सूक्ष्मजीव रहते हैं। यहाँ तक कि स्वयं उनके अंदर भी सहजीवन में ये सूक्ष्मजीव उपस्थित रहते हैं जिनको "एन्डोफाइट्स" कहा जाता है। इन अनेकों सूक्ष्मजीवों में कवक, जीवाणु, विषाणु, सूत्रकृमि, प्रोटोजोआ, एक्टिनोमाइसिट्स आदि सम्मिलित होते है। इन सूक्ष्मजीवों के समूह में कुछ ही हानिकारक होते है जो पौधों के ऊपर परजीवी के रूप में अपना जीवन यापन करते हैं और उनमें विभिन्न प्रकार के रोग–व्याधियां उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा इन सूक्ष्मजीव समूहों में बहुधा लाभदायक सूक्ष्मजीव होते हैं जो विभिन्न फसलों के अनेक रोगकारकों के जैविक नियंत्रण के लिए, जैव उर्वरक के रूप में, विभिन्न प्रतिबलों जैसे लवण सहनशीलता, उष्ण सहनशीलता और सूखा सहनशीलता के लिए भी योगदान करते हैं। घटते जल स्रोत एवं कम होते जल स्तर के इस दौर में विभिन्न फसलों में सूखा प्रतिबल सहनशीलता ने वैश्विक अनुसंधान समुदाय का अपनी ओर ध्यान आकर्षित किया है। सूखा प्रतिबल सहनशीलता में निम्नलिखित सूक्ष्मजीव उपयोगी होते हैंः

1. **सूखा प्रतिबल सहनशीलता में उपयोगी कवक या फफूंदः** कवक अथवा फफूंद हरितलवक (क्लोरोफिल) रहित सूक्ष्मजीव होते हैं जिनका थैलस कवक तंतुओं का बना होता है। अधिकांश कवक नग्न आंखों से नहीं देखे जा सकते है। पूरे विश्व में कवकों की लगभग 1,44,000 प्रजातियाँ खोजी जा चुकी हैं। अनेक प्रजातियाँ फसलों में रोग उत्पन्न करती है। वही बहुत सी कवक प्रजातियाँ ऐसी भी है जो फसलों में रोगों की रोकथाम, जैव उर्वरक के रूप में मृदा स्वास्थ्य प्रबंधन में सहायक एवं फसलों में अनेक प्रतिबलों जैसे लवण सहनशीलता, ताप सहनशीलता, सूखा प्रतिबल या जल तनाव सहनशीलता के प्रबंधन में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। अनेक प्रकार के कवक सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए योगदान करते है जो इस प्रकार हैंः–

अ) ***ट्राइकोडर्मा* प्रजातिः** *ट्राइकोडर्मा* लाभदायक कवकों का प्रमुख वंश है। इसकी अनेक प्रजातियाँ विभिन्न फसलों में रोग नियंत्रण के लिए रिपोर्ट की जा चुकी हैं। इनमें *ट्राइकोडर्मा हर्जियानम* एक प्रमुख जैवनाशी कवक है जिसको निर्विवादित रुप से पौधों में अनेको रोगो की रोकथाम में सक्षम पाया गया है। यह *ट्राइकोडर्मा हर्जियानम* गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहिष्णुता के लिए भी बहुत उपयोगी पाया गया है। *ट्राइकोडर्मा हर्जियानम* को जब सूखा प्रतिबल से जुझ रहें पौधों में निवेशित (इनोकुलेट) किया गया तो यह पौधों में सूखा प्रतिबल की उपस्थिति होने पर क्लोरोफिल संश्लेषण दक्षता को बढ़ावा देने के लिए प्रभावशाली पाया गया। यह प्रकाश संश्लेषक दक्षता में

बढ़ोत्तरी संश्लेषक वर्णक के संश्लेषण में सुधार में *ट्राइकोडर्मा हर्जियानम* द्वारा की गई वृद्धि के कारण हुई। एक ग्रीन हाऊस अध्ययन में स्पष्ट हुआ कि *ट्राइकोडर्मा हर्जियानम* के अनेक विभेदो (आइसोलेट्स) से गेहूँ (ट्रिटीकम एस्टीवम) के बीज की जैव–प्राइमिंग करने से सूखा प्रतिबल के विरूद्ध पौधों में सहनशीलता में बढ़ोत्तरी हुई। *ट्राइकोडर्मा हर्जिअनम* के आइसोलेट्स ने अधिक सूखा प्रतिबल उपचार पर म्लानि या विल्ट को काफी हद तक कम कर दिया। *ट्राइकोडर्मा हर्जिअनम* से उपचारित गेहूँ के पौधों में जड व तने की लम्बाई सघन सूखा प्रतिबल की दशाओं में अनुपचारित की तुलना में काफी अधिक थी। इन पौधों में क्लोरोफिल का ह्रास कम था। यें सभी सूखा प्रतिबल सहिष्णुता को दर्शाते हैं (शुक्ला एवं साथी, 2015)। *ट्राइकोडर्मा* की एक दूसरी प्रजाति *ट्राइकोडर्मा रिसई* ने एक अलग अध्ययन में गेहूँ के पौधों में अनुपचारित की तुलना में लवण सहनशीलता के साथ–साथ सूखा सहनशीलता में प्रभावशाली परिणाम प्राप्त किए।

गेहूँ के पौधों से विभिन्न एंडोफाइट्स को आइसोलेट कर उनका अनेक जैव प्रतिबलों जैसे लवण तनाव, उष्ण प्रतिबल, सूखा प्रतिबल आदि के विरूद्ध परीक्षण किया गया। आइसोलेट किए गए यें *एंडोफाइटिक* कवक *एस्पर्जिलस नाइजर, फ्यूजेरियम ऑक्सीस्पोरम, पेनीसिलियम ऑरैंटियोग्रैसियम, फ्यूजेरियम इनकारनैटम, आल्टर्नेरिया आल्टर्नेटा, आल्टर्नेरिया टेनूइसिमा, क्लैडोस्पोरियम क्लैडोस्पोरिड्स, टैलोरोमाइसिस फुनिकफलोंसस, एस्पर्जिलस फ्लैवस, ट्राइकोडर्मा ऑरियोविरीडे, ट्राइकोडर्मा हर्जिअनम, पेनिसिलियम जैंथीनेलम, फ्यूजेरियम प्रोलिफेरैटम, फ्यूजेरियम इक्वीसैटी, एस्पर्जिलस स्टेल्लैटस* थे। इन कवकों में *ट्राइकोडर्मा ऑरियोविरीडे* सबसे अधिक सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए योगदान देने वाला कवक था जबकि उसके बाद *ट्राइकोडर्मा हर्जिअनम, फ्यूजेरियम ऑक्सीस्पोरम* और *पेनीसिलियम ऑरैंटियोग्रैसियम* ने सूखा प्रतिबल सहनशीलता में योगदान दिया। सूखा तनाव को सहन करने के लिए सहिष्णुता मूल्यांकन 10–40 प्रतिशत पॉलीइथिलीन ग्लाइकॉल (पीईजी 6000 डाल्टन) के साथ संशोधित पीडीए प्लेट्स विधि से किया गया था (रिपा एवं साथी, 2019)।

आ) ***कीटोमियम ग्लोबोसमः*** अन्य महत्वपूर्ण कवक *कीटोमियम ग्लोबोसम* ने गेहूँ में सूखा प्रतिबल दशाओं में जड एवं तना अनुपात, प्रोलिन की मात्रा, प्रोटीन की मात्रा एवं मेलोनी डिएल्डिहाइड (एमडीए) की मात्रा को सार्थकताः सुधार दिया था। परिणामों से पता चला कि *कीटोमियम ग्लोबोसम* एनडी 35 के उपचार ने दो गेहूँ की किस्मों में डिहाइड्रिन जीन की अभिव्यक्ति को अनुपचारित किस्म समूह की तुलना में काफी बढ़ा दिया गया था (कोंग एवं साथी, 2015)। इन सबसे ऊपर, एंडोफाइटिक कवक *कीटोमियम ग्लोबोसम* एनडी 35 अंकुर मूल (सीडलिंग रूट) और पौधे के विकास को बढ़ावा देता है, गेहूँ तीन पत्ती के चरण में पहले विकसित हो सकता है, और सूखा प्रतिरोध को बढ़ाता है। सूखे प्रतिबल के विरूद्ध प्रतिरोध को बढ़ाने के अलावा, इसने गेहूँ की जड़ के ओज में सुधार किया। कोशिकाओं में व्यक्तिगत पानी की मात्रा, शर्करा मात्रा, और प्रोलिन की मात्रा में वृद्धि हुई तथा मेलोनि एल्डिहाइड की वजह से होने वाली ऑक्सीडेटिव क्षति को कम किया और कैटेलेज की गतिविधि को बढ़ाया और इस प्रकार सूखा प्रतिबल या तनाव को कम करने के लिए गेहूँ की सहनशीलता में सुधार हुआ।

इ) ***अर्बस्कुलर माइकोराइजियल कवकः*** उपयोगी कवकों के एक विशिष्ट समूह *अर्बस्कुलर माइकोराइजियल* कवक (ए. एम. कवक) गेहूँ में सूखे के तनाव को कम करने में मदद करने में सक्षम हो सकता है। ये कवक अनेकों पौधों के साथ सहजीवी संबंध स्थापित करने में सक्षम होते हैं और पोषक तत्वों के स्थानांतरण में सहायक होने के साथ साथ अनेक रोगजनकों एवं सूखा प्रतिबल के विरूद्ध जैव–सुरक्षा प्रदान करते हैं। पौधें व *अर्बस्कुलर माइकोराइजियल* कवक के सहजीवी संबंध में फसल और कवक के बीच पोषक तत्वों का पारस्परिक आदान–प्रदान शामिल होता है। कवक पौधे को अकार्बनिक पोषक तत्व,विशेष रूप से फास्फोरस प्रदान करता है। इसके अलावा, यें *अर्बस्कुलर माइकोराइजियल* कवक फसलों को बीमारियों और कीटों जैसे जैविक तनाव कारकों से लड़ने में मदद करते हैं। आरहस यूनिवर्सिटी के एक शोध से पता चलता है कि यें कवक सूखे तनाव के तहत कुछ गेहूँ की किस्मों में वृद्धि और उपज में सुधार कर सकता है। गेहूँ के किस्मों के दो समूहों ने एएम कवक के साथ सूखा तनाव के लिए अलग तरह से प्रतिक्रिया की। सूखे की संवेदनशील किस्म, सूखे की स्थिति के तहत ए.एम. कवक निवेशन से लाभान्वित हुई, जिसके परिणामस्वरूप बायोमास में वृद्धि हुई, प्रकाश संश्लेषण में सुधार हुआ और नाइट्रोजन–उपयोग में सुधार हुआ। सूखे की स्थिति में और ए.एम. कवक निवेशन के बिना किस्मों का एक समूह कम बायोमास, कम प्रकाश संश्लेषण के साथ कम उपज ही प्रदर्शित कर सका।

एक अन्य अध्ययन में *ग्लोमस फैसिकुलेटम* एवं *ग्लोमस डेजर्टिकॉला* कवक गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहनशीलता में उपयोगी सिद्ध हुए है। इन दोनों *ग्लोमस फैसिकुलेटम* एवं *ग्लोमस डेजर्टिकॉला* कवकों के इनोकुलेशन (निवेशन) के 55 दिन के बाद गेहूँ के पौधों में सूखा तनाव की स्थिति में अनुपचारित की तुलना में अधिक पत्ती क्षेत्रफल, अधिक पत्ती, कुल पौधा भार एवं जड का भार अधिक थे। इसी प्रकार नियंत्रित दशाओं के अन्तर्गत *अर्बस्कुलर माइकोराइजियल* कवक *ग्लोमस क्लैरोइडियम* भी गेहूँ की फसल में सूखा तनाव सहनशीलता में उपयोगी पाया गया। जल तनाव सहिष्णुता को गेहूँ के पौधों में *माइकोराइजियल* कवक निवेशित एवं *माइकोराइजियल* कवक गैर–निवेशित पौधों में कुल सूखा वजन, पत्ती सापेक्ष जल मात्रा, विलेय के रिसाव और पत्ती क्लोरोफिल और प्रोटीन सांद्रता के माध्यम से निर्धारित किया गया था। गैर–*मायकोराइजियल* की तुलना में मध्यम या गंभीर जल तनाव उपचार के बाद कुल सूखे वजन और पत्ती क्लोरोफिल सांद्रता *मायकोराइजियल* पौधों में काफी अधिक थी। इलेक्ट्रोलाइट रिसाव *मायकोराइजियल* कवक निवेशित पौधों में काफी कम था।

2. **सूखा प्रतिबल सहनशीलता में उपयोगी पीजीपीआर का प्रयोगः** सुखा प्रतिबल प्रबंधन के लिए अनेक रणनीतियों की आवश्यकता होगी। पादप वृद्धि को प्रोत्साहित करने वाले बैक्टेरिया (पीजीपीआर) पौधों में सूखा प्रतिबल के प्रबंधन में सार्थक भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं। इन जीवाणुओं की फसलों में रोग नियंत्रण व पोषक तत्व प्रबन्धन में भूमिका भली–भांति सत्यापित है। परन्तु अब जैव एवं अजैव दबाव प्रबंधन में इनकी भूमिका महत्व प्राप्त करती जा रही है। यें लाभदायक सूक्ष्मजीव राइजोस्फियर अथवा इंडो–राइजोस्फियर को कोलोनाइज करते हैं एक्सोपॉलीसैकेराइड्स, फाइटोहॉर्मोन्स, 1–एमिनोसाइक्लोप्रोपैन–1 कार्बोक्सीलेट (एसीसी) डिएमिनेज, वाष्पशील (वॉलेटाइल) यौगिकों को उत्पन्न करके, ऑस्मोलाइट्स के संघनन को प्रेरित करके, प्रति ऑक्सीडेंट्स, प्रतिबल अनुक्रिया सम्बंधी जीन्स के अधिनियमन (अप–रेगुलेशन) व अपनियमन (डाउन–रेगुलेशन) एवं जड की आकारिकी में परिवर्तन करके सूखा प्रतिबल सहनशीलता को अर्जित करते हैं। राइजो–बैक्टीरिया द्वारा पौधे में सूखे तनाव सहिष्णुता प्रेरित के लिए सटीक तंत्र वर्णन में निम्नलिखित संभावित बिन्दु शामिल हैं:

1. एब्सिसिक एसिड (एबीए), जिब्रेलिक एसिड, साइटोकिनिन्स और इंडोल 3 ऐसिटिक ऐसिड (आईएए) जैसे पादप हार्मोन्स का उत्पादन।
2. विकासशील पौधों की जड़ में एथिलीन के स्तर को कम करने के लिए आवश्यक एंजाइमों, 1–एमिनोसाइक्लोप्रोपेन–1–कार्बोक्जिलेट (एसीसी) डिएमिनेज का उत्पादन।
3. जीवाणु–निर्मित यौगिकों द्वारा प्रेरित प्रणालीगत प्रतिरोध।
4. बैक्टीरियल बायोफिल्म का निर्माण अर्थात् बाह्य मेट्रिक्स। विशेष रूप से, जीवाणु बायोफिल्म द्वारा गठित एक बाह्य मेट्रिक्स, पौधे के विकास और विकास के लिए फायदेमंद मेक्रोमोलेक्यूल की लगभग अनन्त सीमा प्रदान कर सकता है। बायोफिल्म में शर्करा और ओलिगो– और पॉलीसेकेराइड होते हैं जो बैक्टीरिया–पौधे की बातचीत में विभिन्न भूमिका निभा सकते हैं, उदाहरण के लिए, जड़ माध्यम में पानी की उपलब्धता में सुधार। कुछ पॉलीसेकेराइड की जल प्रतिधारण क्षमता उनके द्रव्यमान को कई गुना बढ़ा सकती है। वास्तव में, यह प्रदर्शित किया गया है कि बायोफिल्म में एक छोटी सी पॉलीसैकराइड एल्गिनेट सामग्री भी जलीय लघु पर्यावरण (हाइड्रेटेड माइक्रोएन्वायरमेंट) के रखरखाव की सुविधा प्रदान करती है।नीचे दिए गये चित्र (चित्र–2) में सूखा प्रतिबल की उपस्थिति में लाभदायक सूक्ष्मजीवों कवक–जीवाणु के गेहूँ के पौधों में सूखा प्रतिबल सहनशीलता बढाने में सम्भावित प्रभाव दर्शाएं है।

चित्र–2 सूखा प्रतिबल की उपस्थिति में लाभदायक सूक्ष्मजीवों कवक–जीवाणु का गेहूँ के पौधों में सूखा प्रतिबल सहनशीलता बढाने में सम्भावित प्रभाव

पादप विकास को बढ़ाने और विभिन्न रोगजनकों के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करने के लिए पीजीपीबी की क्षमता अक्सर कृषि प्रणालियों में 50 के दशक के बाद से रिपोर्ट और लागू की गई है। पीजीपीबी–प्रेरित सूखा तनाव सहिष्णुता पर सबसे पहली रिपोर्ट टिममस्क और वैगनर द्वारा केवल 1999 में प्रकाशित की गई थी। संभावित सूक्ष्मजीवों की विशाल विविधता से, ग्राम–पॉजिटिव

राइजोस्फीयर बैक्टीरिया को उनके हैंडलिंग और एंडोस्पोर बनाने की क्षमता में आसानी के कारण सीमित जल संसाधनों के क्षेत्रों में व्यापक रूप से व्यावसायिक रूप से प्रयुक्त करने की संभावना है जो पर्यावरणीय तनाव की स्थिति में कुशल उपनिवेशन की सुविधा प्रदान करते हैं।

गेहूँ के पौधों के जड क्षेत्र (राइजोस्फियर) को कॉलोनाइज या निवेशित करने वाले बैक्टेरिया जिन्हें प्रचलित भाषा में राइजोबैक्टेरिया कहते हैं, गेहूँ की फसल में सूखा प्रतिबल सहिष्णुता के लिए सार्थक योगदान देने के लिए अनेक वैज्ञानिकों द्वारा रिपोर्ट किया गया है। स्यूडोमोनास क्लोरोरैफिस का आइसोलेट 30–84 जो कि फेनाजाइन्स उत्पादित करता है गेहूँ में सूखा तनाव सहिष्णुता को बढाने में सहायक होता है। इस जीवाणु के द्वारा जल तनाव की नियंत्रित दशाओं में गेहूँ के अंकुरों में सापेक्ष जल मात्रा अनुपचारित की तुलना में 10–20 प्रतिशत तक अधिक पायी गयी। सूखा तनाव, सीमित जल आपूर्ति के रूप में प्रदर्शित, आमतौर पर पौधे की उपज में गंभीर नुकसान का कारण बनता है, जहाँ गंभीरता और अवधि का संयोजन पौधे के असितत्व के लिए महत्वपूर्ण कारक हैं। पीजीपीआर के अनुप्रयोग से सूखा तनाव के हानिकारक प्रभावों का मुकाबला किया जा सकता है, और फसल की पैदावार को बढ़ा सकते हैं। सूखे की स्थिति के कारण एजोस्पिरिलम ब्रासीलेंस एसपी 245– प्राइमेड गेहूँ के उपयोग से जल की क्षमता में बड़ी वृद्धि हुई है, और गैर–प्राइमेड पौधों की तुलना में दोनों शूट्स और जड़ों में एपोप्लास्टिक जल कार्य करता है (एल्वारेज एवं साथी, 1996)। इसके अलावा, एजोस्पिरिलम इनोक्यूलेशन ने कोलियोप्टाइल जाइलम संरचना के रूपात्मक संशोधनों के कारण परासरनी तनाव के अंतर्गत गेहूँ के अंकुरों में बेहतर पानी की स्थिति दर्शाई। परासरनी तनाव के अधीन अजोस्पिरिलम– इनोक्युलेटेट गेहूँ के अंकुरों ने गैर–इनोकुलेटेड रोपों की तुलना में उच्च ताजे वजन और बेहतर पानी की स्थिति के साथ महत्वपूर्ण उच्च कोलियोप्टाइल विकसित किए। इस संबंध में, एबीए–उत्पादन करने वाले बैक्टीरिया अजोस्पिरिलम ने मिट्टी के सूखेपन के लिए अरैबिडोप्सिस, मक्का और गेहूँ के पौधों में सूखा प्रतिरोध को बढ़ावा दिया। एजोस्पिरिलम ब्रासिलेंस आई.एन.टी.ए. ए.जेड.–39– ठेठ सूखी भूमि की खेती की परिस्थितियों में इनोक्युलेटेट गेहूँ के पौधों ने बेहतर वृद्धि का प्रदर्शन किया और वनस्पति विकास, तना और जड़ शुष्क पदार्थ संचय, अनाज की संख्या और अनाज की उपज को बढ़ाया। एक शोध के परिणामनुसार, एजोस्पिरिलम प्रजाति के साथ गेहूँ का टीकाकरण, पौधे के पानी के पात्रों को समायोजित करने के माध्यम से पौधे के विकास और उपज पर सूखे के तनाव को कम कर सकते हैं। बर्कहोल्डरिया फाइटोफिरमेंस के साथ गेहूँ के इनोक्यूलेशन ने पानी की उपलब्धता और कार्बन डाइऑक्साइड आत्मसात दर पर सूखे के प्रतिकूल प्रभाव को काफी हद तक कम कर दिया, जिससे प्रकाश संश्लेषण दर, पानी के उपयोग की दक्षता और क्लोरोफिल की मात्रा में सुधार होता देखा गया। कई अन्य अध्ययन इसी तरह के परिणामों की रिपोर्ट करते हैं।

निष्कर्ष : कृषि में पर्याप्त जल आपूर्ति भविष्य में दूर की कौडी है। यह सम्भव नहीं कि बढती जनसंख्या एवं घटते कृषि संसाधनों के बीच पानी की उपलब्धता बनी रहे, जबकि पानी पूरे विश्व में लगातार घट रहा है। चूंकि जनसंख्या बढती जा रही है अतः इसकी उदर पूर्ति के लिए खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए कृषि पर भी अतिरिक्त दबाव बढेगा। अन्ततः इन खाद्यान्नो को पैदा करने के लिए अतिरिक्त कृषि संसाधनो प्रमुखतः भूमि की आवश्यकता होगी। इन खाद्यान्नों में धान की तुलना में कम पानी की माँग के कारण गेहूँ का स्थान सर्वोपरि बना रहेगा या यूं कहे गेहूँ का वर्चस्व बढेगा तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। कृषि को गैर–उपजाऊ, असिंचित भूमि में और अधिक विस्तार देना होगा। पहले से ही घट रहे जल की उपलब्धता सभी प्रकार के क्षेत्रों में सब प्रकार की भूमियों पर एक समान नहीं हो पायेगी। अतः इस परिदृश्य में सूखा या जल तनाव गेहूँ की ज्यादा से ज्यादा उपज लेने में निर्णायक भूमिका तय करने की स्थिति में रहेगा। इस सूखा प्रतिबल के प्रति सहनशीलता के प्रबंधन के लिए एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता होगी। सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए उत्कृष्ट जीनोटाइप के चयन एवं प्रजनन के लिए आनुवंशिकी एवं पादप प्रजनन की पारंगत तकनीकों का समुचित प्रयोग करना होगा। वहीं दूसरी और लाभदायक व विभिन्न रोगों के नियंत्रण में सिद्ध मित्र सूक्ष्मजीवों की गेहूँ में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए उपयोगिता की गहन जांच (स्क्रीनिंग) करनी होगी ताकि यें दो अर्थो में कृषि वैज्ञानिकों के लिए सहायक हो सके। एक तो यें गेहूँ की विभिन्न रोग व्याधियों की रोकथाम में सहायक हो और दूसरे गेहूँ की फसल में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए भी सार्थक योगदान कर सकें। इन लाभदायक मित्र सूक्ष्मजीवों में *ट्राईकोडर्मा* की विभिन्न प्रजाति, *कीटोमियम* प्रजाति, *अर्बस्कुलर माइकोराइजियल* कवक समूह, लाभदायक जीवाणु जैसे *एजोस्पिरिलम, बेसीलस, स्यूडोमोनास* आदि की भूमिका महत्वपूर्ण रहेगी। इस दिशा में गेहूँ अनुसंधान में जुटे वैज्ञानिकों को वे भी सूक्ष्मजीव परखने होंगे जो गेहूँ से अलग अन्य फसलों में सूखा प्रतिबल सहनशीलता के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अंत में इन लाभदायक सूक्ष्मजीवों के द्वारा पौध पोषण, रोग नियंत्रण एवं विभिन्न अजैव दबाव प्रमुखतः सूखा तनाव इत्यादि के नियंत्रण में पौधों की सहायता करके खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ पर्यावरण सुरक्षा के परिदृश्य में भी सफलता प्राप्त की जा सकती है।

तालिका–1 : कुछ लाभदायक प्रमुख सूक्ष्मजीवों का गेहूँ में सूखा तनाव सहनशीलता में योगदान

क्रमांक	सूखे की स्थिति में सक्रिय कवक/बैक्टेरियल इनोकुलेट	फसल के गुणों पर प्रभाव
1.	*ट्राइकोडर्मा हर्जियानम*	क्लोरोफिल गतिविधि में वृद्धि, ऑक्सिडेटिव क्षति के विरूद्ध पादप कार्यिकी सुरक्षा, रिएक्टिव ऑक्सीजन स्पेशीज से पौधों में कम क्षति
2.	*कीटोमियम ग्लोबोसम*	गेहूँ में डिहाइड्रिन जीन की अभिव्यक्ति
3.	*ग्लोमस फैसिकुलेटम* एवं *ग्लोमस डेजर्टिकॉला*	अधिक पत्ती क्षेत्रफल, अधिक पत्ती, अधिक कुल पौधा भार एवं जड़ भार
4.	*ग्लोमस क्लैरोइडियम*	क्लोरोफिल गतिविधि में वृद्धि, इलेक्ट्रोलाइट रिसाव में कमी
5.	*स्यूडोमोनास क्लोरोरैफिस* का आइसोलेट	फेनाजाइन्स उत्पादन
6.	*एजोस्पिरिलम ब्रासिलेंस* एसपी	गेहूँ के कोलियोप्टाइल्स की वृद्धि दर को बढ़ाता है
7.	*एजोस्पिरिलम ब्रासिलेंस* आई.एन.टी.ए. ए.जेड.	गेहूँ (*ट्रिटिकम ऐस्टिवम* की जड़ों को बढ़ाता है
8.	*एजोस्पिरिलम लिपोफेरम*	गेहूँ (*ट्रिटिकम ऐस्टिवम*) की फसल की वृद्धि को बढ़ाता है
9.	*बर्कहोल्डरिया फाइटोफिरमेंस*	गेहूँ की पैदावार प्रकाश संश्लेषण दर, जल उपयोग दक्षता और उनकी क्लोरोफिल गतिविधि को बढ़ाता है
10.	*बेसिलस सफेंसिस ऑक्रोबैक्ट्रम स्यूडोग्रैग्नोनेंस*	गेहूँ (*ट्रिटिकम ऐस्टिवम*) की फसल की वृद्धि को बढ़ाता है

खाद पड़े तो खेत। नहीं तो कूड़ा रेत।
गोबर मैला नीम की खली,
या से खेती दूनी फली।
खेत में नहीं गोबर। किसान है दूबर।

❋❊❋❊❋

कृषक वैज्ञानिक की दावेदारी।
खाद्य सुरक्षा मेरी जिम्मेदारी।।

बुन्देलखण्ड के वर्षा सिंचित क्षेत्रों में चारा प्रबंधन हेतु फोडर बीट (चारा चुकंदर) की खेती की अवधारणा

दीपक मौर्य, के.डी. साह, एस.के. रेजा एवं ए.के. साहू

सारांश : शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में किसान की आय का मुख्य स्रोत पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन है, किन्तु कृषि विषमताओं के कारण यहाँ के पशुओं के लिए वर्ष पर्यन्त हरा चारा मिल पाना एक समस्या है। आईसीएआर के केन्द्रीय शुष्क क्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर द्वारा इन क्षेत्रों में हरे चारे के उत्पादन के अनेक प्रयास किये गए हैं। इन्हीं प्रयासों में फोडर बीट (चारा चुकंदर) जो की बाह्य देश की फसल है, को भारत में उगाये जाने के प्रयास किये गए हैं। प्रस्तुत आलेख में बुन्देलखण्ड की विषम कृषि परिस्थितियों में फोडर बीट (चारा चुकंदर) की खेती की अवधारणा प्रस्तुत की गई है।

परिचय :

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि एवं पशुपालन का विशेष महत्व है। सकल घरेलू कृषि उत्पाद में पशुपालन का 28–30 प्रतिशत का योगदान सराहनीय है जिसमें दुग्ध एक ऐसा उत्पाद है जिसका योगदान सर्वाधिक है। 20वीं पशुधन गणना रिपोर्ट (2018) के अनुसार देश में कुल पशुधन आबादी 535.78 मिलियन है, जो पिछली पशुधन गणना (2012) की तुलना में 4.6% अधिक है। पिछले पाँच सालों में देश में कुल मवेशियों की संख्या में 0.8% की वृद्धि हुई है जबकि कुल दुधारू मवेशियों में 6% की वृद्धि देखी गई है।

भारत की कुल कृषि भूमि का 58% हिस्सा शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्र है। ऐसे ही शुष्क एवं वर्षा सिंचित क्षेत्रों में बुन्देलखण्ड भी प्रमुख है। इन क्षेत्रों में जहाँ खाद्यान्न फसलों की खेती में अनेक समस्याएं है, पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन ही मुख्य कृषि आय श्रोत है, किन्तु जल की कमी की कारण पशुओं के लिए वर्ष पर्यन्त हरा पौष्टिक चारा उपलब्ध होना एक बड़ी चुनौती है। इस समस्या के समाधान हेतु भाकृअनुप–केन्द्रीय शुष्क क्षेत्र अनुसंधान संस्थान जोधपुर, राजस्थान नई चारा फसल,चारा चुकंदर (*बीटा वल्गारिस*), लेकर आया है जो औसतन 5 से 6 किलोग्राम वजन के कंद पैदा करता है। यह हॉलैंड की एक पेटेंटेड चारा फसल है। फोडर बीट, जिसे सामन्य भाषा में चारा चुकन्दर भी कहा जाता है, एक अत्यधिक उपज देने वाली कन्दीय फसल है। यह लाल (चुकंदर) और सफेद (शलजम) की मध्य की फसल है और अन्य चारा फसलों की तुलना में कम समय एवं कम क्षेत्रफल में अधिक चारा देती है। फोडर बीट (चारा चुकंदर) चिनोपोडियम कुल का पौधा है। इसकी उत्पत्ति यूरोप को माना जाता है। फोडर बीट हेतु दोमट व बलुई दोमट मिट्टी सर्वोतम है किन्तु इसे किसी भी प्रकार की भूमि में लगाया जा सकता है।

चार महीने से भी कम समय में तैयार होने वाली इस उच्च उत्पादन क्षमता (200 टन / हेक्टेयर तक) वाली फसल को अक्टूबर के मध्य से दिसंबर के मध्य तक लगाया जाता है और यह फसल जनवरी से अप्रैल के बीच तैयार होती है, जब अन्य चारे की फसलों की उपलब्धता कम होती है। इस चारा फसल के उत्पादन में 50 पैसे प्रति किलो से भी कम की लागत आती है जबकि अन्य हरे चारे की फसल की लागत कम से कम तीन रुपये प्रति किलो आती है। इस फसल की जल उपयोग दक्षता (प्रति एम^3 पानी 28–32 किलोग्राम ग्रीन बायोमास) बहुत अधिक है। इस फसल में कैल्सियम की अच्छी मात्रा पाई जाती है इसलिए परीक्षणों में यह देखा गया है कि थारपारकर मवेशियों की दुग्ध उत्पादन क्षमता में 8 से 10 फीसद सुधार हुआ है।

इस फसल के पौधों को पहले क्यारियों में तैयार किया जाता है फिर 20 सेमी. की मेंड़ पर रोपित कर दिया जाता है। एक लाख पौधों की अनुकूलतम संख्या के लिए प्रति हेक्टेयर लगभग 2.0 से 2.5 किलोग्राम बीज की आवश्यकता होती है। पौधों को 20 सेमी. की दूरी पर मेंड़ के एक तरफ आधा बोना चाहिए जिससे तैयार पौधे का 60% भाग मिट्टी के ऊपर ही रहे और तैयार होने पर इसे मिट्टी से बहार निकलने में आसानी हो। इस फसल की महत्वपूर्ण किस्मों में जोमोन, मोनरो, जेके कुबेर और जेरोनिमो आदि प्रमुख हैं।

यह फसल कैल्शियम, आयरन, कार्बोहाइड्रेट, कई तरह के विटामिन और एंथोसाइनिम आदि जैसे पौष्टिक तत्वों का भंडार है। इसलिए इस फसल को चारे के रूप में पशुओं को खिलाने से न केवल उनका शरीर मजबूत होता है बल्कि उनके दूध उत्पादन में भी वृद्धि देखी गई है। अधिक फाइबर होने के कारण इस फसल को खिलाने से पशुओं का पाचन तंत्र भी सही रहता है। यह चुकंदर मिठास में दूसरे चुकंदर के मुकाबले

राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण एवं भूमि उपयोग नियोजन ब्यूरो, क्षेत्रीय कार्यालय, कोलकाता

कम मीठा होता है इसलिए इसे मानव खाना पसंद नहीं करते हैं किन्तु अधिक पोषक और कम मीठा होने के कारण यह मधुमेह रोगियों की लिए वरदान है।

निष्कर्ष : बुन्देखण्ड की जलवायु न केवल शुष्क है बल्कि यहाँ पानी की भी अत्यंत कमी है। बुन्देलखण्ड की अधिकांश मृदायें लवणीय एवं क्षारीय हैं। अधिकाँश क्षेत्रों में खेती वर्षा सिंचित ही है और जल की कमी के कारण रबी फसलों की बुआई नहीं हो पाती अथवा कम उपज होती है। संसाधनों के अभाव और निरंतर आय का साधन ना होने के कारण यहाँ के किसान की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है ऐसे में वह किसी व्यावसायिक खेती के बारे में सोच भी नहीं सकता। फोडर बीट पर भूमि व पानी के खारेपन का भी कोई विपरित प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि इसके लगाने से भूमि में क्षार की मात्रा कम होती है। यहाँ तक की यह फसल बंजर जमीन में भी उगाई जा सकती है। इन क्षेत्रों में रबी ऋतु में सामान्यतः किसान उपजाऊ जमीन पर तो खाद्यान्न, तिलहन और दलहन आदि की खेती करते हैं किन्तु कम उपजाऊ जमीन को संसाधनों की अभाव में परती ही छोड़ दिया जाता है। ऐसे में यदि किसान इस जमीन पर इस फसल की खेती करें तो प्रति हैक्टेयर जमीन में 2000 क्विंटल तक चुकंदर पैदा किया जा सकता है। अच्छी उपजाऊ जमीन में तो इसकी उपज और भी बढ़ाई जा सकती है। यदि किसान इस फसल को साइलेज में बदल लें तो यह चारा लम्बे समय तक सुरक्षित रहेगा और पशुओं को लम्बे समय तक पौष्टिक चारा मिलता रहेगा। साथ ही यदि इस चारे कि बिक्री कि जाये तो किसान को अतिरिक्त आय भी हो सकती है। इस प्रकार यह फसल इस क्षेत्र के लिए वरदान साबित हो सकती है।

शिक्षा में बड़ी ताकत होती हैं आपके जीवन के सारे दुःखों को खत्म करने का सामर्थ्य होता हैं।

❋❊❋❊❋

शिक्षा (ज्ञान) एक ऐसी वस्तु हैं जिसे न तो खरीदा जा सकता हैं न किसी से बाँटा जा सकता हैं.

जल संरक्षित करो :
जल ही, हमारा आने वाला कल है।

❋❊❋❊❋

उत्तम चारा, सही प्रबंधन।
तभी होगा कृषि एवं पशुपालन का गठबंधन।

❋❊❋❊❋

हिन्दी भारत की एक भाषा स्वीकार कर ली जाए तो सहज ही एकता संभव हो सकती है।

– आचार्य केशवचंद्र सेन

क्षीण वर्षा क्षेत्रों के लिए उपयोगी कृषिवानिकी

आर.के. तिवारी, इन्दर देव एवं सुशील कुमार

सारांश : कृषिवानिकी एक प्रचलित विधा है जिसके अन्तर्गत काष्ठीय वृक्ष प्रजातियों को फसल के साथ उगाया जाता है। स्थान विशेष और उद्देश्य के अनुसार वृक्ष प्रजातियों का चयन किया जाता है। वृक्ष प्रजाति चयन उपरान्त, उत्तम गुणवत्तायुक्त पौध की उपलब्धता सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण होता है। आनुवांशिक गुणवत्ता के साथ पौधों का भौतिक गुणों जैसे पौधे की उम्र, ऊँचाई, मोटाई, जड़ विन्यास एवं कण्टेनर का आकार, ग्रोथ मीडिया का प्रकार आदि का भी ध्यान रखना चाहिए। रोपण का खर्च केवल एक बार होता है। अतः रोपणी की गुणवत्ता से समझौता नहीं करना चाहिए।

परिचय :

जैसा कि नाम से विदित है कृषि उद्यानिकी के अन्तर्गत फल वृक्षों का रोपण फसलों के साथ किया जाता है तथा कृषि वन पद्धति में इमारती लकड़ी, ईंधन, चारा, पल्प, प्लाईवुड के उपयुक्त वृक्षों का रोपण करते हैं। वन चरागाह पद्धति में चारा उत्पादक वृक्षों को घास या चारा फसलों के साथ रोपित किया जाता है। इसके अतिरिक्त जो अन्य कृषिवानिकी विधायें हैं उनकों इनके विविध संयोजन जैसे उद्यान–वन–चरागाह, उद्यान–वन–कृषि, औषधीय कृषिवानिकी इत्यादि के नाम से जाना जाता है। एकीकृत फसल प्रणाली जिसमें पेड़, फसल, मछली, पशु सम्मिलित हों को भी कृषिवानिकी का रूप माना जाता है। गृह वाटिका जिसमें फल, सब्जी, पेड़ सम्मिलित होते हैं, भी कृषिवानिकी का एक प्रकार हैं। रेगिस्तानी क्षेत्रों में हवा की तेज गति से होने वाले मृदा क्षरण को रोकने हेतु वायुरोधी वृन्त लगाये जाते है। यह भी कृषिवानिकी का एक प्रारूप है इसी प्रकार चाय/कॉफी के बगानों में कोमल पत्तियों की वृद्धि के लिए इनमें छायादार वृक्ष लगाये जाते हैं। यह कृषिवानिकी का अद्वितीय उदाहरण है। पूरे देश में अव्यवस्थित ढंग से मेड़ों पर या क्षीण भूमियों पर वृक्ष पाये जाते हैं। यह पारम्परिक कृषिवानिकी के रूप में प्रचलित विधा है। क्षीण वर्षा क्षेत्रों में वृक्ष प्रजाति चयन के लिए निर्धारित मानदण्ड निम्न हैं–

1. सूखा रोधी
2. तेज बढ़वार, यथासम्भव पर्णपाती
3. कटाई–छँटाई के प्रति उत्तरदायी
4. बहुउपयोगी, बाजार में अधिक माँग
5. कम समय में कटाई के लिए उपयुक्त
6. मुख्य फसल के साथ सुसंगत वृक्ष प्रजाति

इनके अतिरिक्त स्थान विशेष के अनुसार वृक्ष प्रजाति चयन के लिए भी मानदण्ड निर्धारित हैं। स्थान विशेष के अनुसार प्रजाति चयन करते समय निम्न बातों का ध्यान रखते हैं।

- मृदा प्रकार एवं गहराई
- जल निकास
- भूमि ढलान
- मृदा उर्वरता

रोपण के उद्देश्य के दृष्टिगत निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए।

- बाजार उपलब्धता
- रोपण सुरक्षा
- स्वयं की आवश्यकता

पौध उपलब्धता सुनिश्चित करने के उपरान्त रोपण की विधि का विचार किया जाता है। रोपण निम्न विधियों से कर सकते हैं :

- मेड़ रोपण
- जोत सीमा रोपण/सजीव बाड़
- फसल सह रोपण – आयताकार चौकोर हेज रो

वृक्ष प्रकार के अनुसार कृषिवानिकी को मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जाता है :

- कृषि उद्यानिकी
- कृषि वन
- वन चरागाह

उपयोगिता : भारत देश की स्वतन्त्रता के समय इस देश की आबादी 35 करोड़ थी और खाद्यान्न उत्पादन 5 करोड़ टन था। वर्तमान में देश की आबादी 130 करोड़ से अधिक है जबकि कुल खाद्यान्न उत्पादन 28.7 करोड़ टन हो गया है। स्पष्ट है कि देश की आबादी में लगभग 4 गुना बढ़ोत्तरी हुई जबकि खाद्यान्न

भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय कृषिवानिकी अनुसंधान संस्थान, झाँसी

उत्पादन में 5.7 गुना वृद्धि हुई। इस कारण देश खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर ही नहीं अपितु निर्यातक की श्रेणी में आ गया। खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि का श्रेय कृषि के अन्तर्गत बढ़े क्षेत्रफल, सिंचाई सुविधा में वृद्धि, उन्नत फसल प्रजातियों के विकास एवं कृषि रसायनों को दिया जाता है। परन्तु इस दौड़ में प्राकृतिक संसाधनों का अत्याधिक दोहन हुआ। मृदा की उर्वरा क्षमता घट गयी। जल संसाधन कम हुए और प्रदूषित भी हो गये। सघन कृषि के फलस्वरूप जैव विविधता नष्ट हुई। रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से फसलों को तात्कालिक लाभ अवश्य मिला परन्तु उर्वरकों के असंतुलित प्रयोग के फलस्वरूप अन्यान्य सूक्ष्म मात्रिक तत्वों की कमी हो गयी जिसका फसलोत्पादन एवं फसल गुणवत्ता पर दुष्प्रभाव स्पष्ट है। कृषि रसायनों का सर्वाधिक दुष्प्रभाव सूक्ष्म जीवों पर पड़ा। परिणामस्वरूप कृषि लागत में बढ़ोत्तरी, गुणवत्ता में कमी और उत्पादन में स्थिरता आने लगी। जलवायु परिवर्तन के कारण भी कृषि में जोखिम बढ़ गया। इस दिशा में विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। वास्तव में प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण की समस्या विश्व–व्यापी है। जलवायु परिवर्तन प्राकृतिक चक्र का हिस्सा है जिसे उद्योगीकरण तथा आग्नेयास्त्रों के अत्याधिक प्रयोग ने काफी बढ़ा दिया है। क्षरण एवं जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए वृक्ष सर्वथा उपयुक्त हैं परन्तु बढ़ती आबादी की खाद्य एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की वाध्यता के कारण वनों का क्षेत्रफल बढ़ाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। तथापि कृषिवानिकी द्वारा कुल वृक्षावरण बढ़ाया जा सकता है। इसलिए कृषिवानिकी का विकास अति आवश्यक है। ज्ञात है कि शाकीय फसलें मौसम के छोटे–मोटे बदलाव से भी तुरन्त प्रभावित होती हैं जबकि काष्ठीय वृक्षों पर इनका प्रभाव बहुत कम होता है। अतः कृषिवानिकी अपनाकर कृषक जोखिम कम कर सकते है। शाकीय फसलों की उत्पादकता सीमा काष्ठीय वृक्षों की अपेक्षा कम है। कृषिवानिकी के अन्तर्गत वृक्षों और फसलों को साथ–साथ उगाकर प्रति इकाई क्षेत्रफल से अधिक जैवपुँज उत्पादित होता है। खेतों में खड़े वृक्ष चिड़ियों को आवास उपलब्ध कराते हैं जो कीट नियन्त्रण में किसानों का सहयोग करती है। वृक्षों की उपस्थिति से जलवायु प्रभावित होती है। तेज हवा के थपेड़ों को रोककर फसल को गिरने से बचाते हैं। पेड़ों से गिरने वाली पत्तियाँ मृदा में जीवांश की मात्रा बढ़ाते हैं और उपजाऊ क्षमता में वृद्धि करते हैं। मृदा की ऊपरी सतह में अवस्थित सूक्ष्मजीवों को, विपरीत समय में जबकि भूमि पर फसल नहीं होती, वृक्षों के जड़ क्षेत्र में आवास तथा भोजन मिलता है और वह अगली फसल आने तक सुरक्षित बचे रहते हैं। इस प्रकार कृषिवानिकी का पर्यावरण संरक्षण, जैव विविधता वृद्धि, उर्वराशक्ति बढ़ाने, मृदा एवं जल संरक्षण, कुल जैवपुँज उत्पादन एवं आर्थिक स्वाबलम्वन में महत्वपूर्ण योगदान है।

भारतीय वन नीति 1980 के अनुसार स्वस्थ पर्यावरण के लिए देश के एक तिहाई भूभाग पर वन होने चाहिए तभी नदियों की निरन्तरता रहेगी। सम्प्रति लगभग 22 प्रतिशत भूभाग पर वन हैं। सघन वन (40 प्रतिशत से अधिक वृक्ष घनत्व) का क्षेत्रफल मात्र 14 प्रतिशत भूभाग पर है। कृषिवानिकी अपनाने से इन वनों पर दबाव कम होगा। वनों में पर्याप्त चारा उपलब्ध होने पर खेती में नीलगाय की समस्या कम होगी। सघन वनों में वन्य जीवों की संख्या बढ़ेगी। किसान आत्मनिर्भर बनेंगे।

प्रदूषण की समस्या बढ़ने के फलस्वरूप, खाद्यान्नों की गुणवत्ता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। इसके समाधान के लिए जैविक कृषि की तरफ लोगों का रूझान बढ़ा है। जैविक कृषि हेतु पर्याप्त जैवपुंज की आवश्यकता होती है। कृषिवानिकी से खेत में स्वतः जीवांश बढ़ता है क्योंकि पेड़ों की पत्तियाँ बराबर खेत में गिरती रहती हैं जो जीवांश कार्बन की मात्रा में वृद्धि करती हैं और सूक्ष्म मात्रिक तत्वों की कमी भी पूरी करती हैं।

अस्तु, टिकाऊ कृषि के लिए कृषिवानिकी अपरिहार्य है। इसे प्रोत्साहित करने के लिए भारत सरकार ने सर्वप्रथम वर्ष, 2015 में कृषिवानिकी नीति जारी किया। भारत में कृषि विकास राज्यों का विषय है, जबकि वन समवर्ती सूची का विषय है। अतः कृषिवानिकी नीति के क्रियान्वयन हेतु भारत सरकार ने सब–मिशन एग्रोफारेस्ट्री की स्थापना किया और राज्य सरकारों को कृषिवानिकी प्रोत्साहन के लिए आर्थिक मदद का प्रावधान किया। इस दिशा में विभिन्न प्रदेशों की सरकार ने किसानों के खेत पर लगाये गये पेड़ों को पातन प्रतिबन्ध तथा परिवहन बाध्यताओं से मुक्त करने की घोषणा की। फलस्वरूप किसान बड़ी संख्या में आर्थिक मदद लेकर कृषिवानिकी अपना रहे हैं।

क्षीण वर्षा क्षेत्रों के लिए उपयुक्त वृक्ष प्रजातियों को सारणी–1 में दर्शाया गया है। रोपण का मुख्य समय वर्षा ऋतु होता है। यथासम्भव ऋतु की पहली वर्षा उपरान्त रोपण करना चाहिए।

तालिका–1 : उपयुक्त वृक्ष प्रजातियाँ

पद्धति	वृक्ष प्रजाति
सजीव बाड़	कुमट, मेंहदी
कृषि वन	सागौन, गम्हार
कृषि उद्यानिकी	आँवला, बेर, बेल, सहजन
वन चरागाह	सुबबूल, नूतन बाँस
सीमा रोपण	सागौन, शीशम, नीम, बबूल, रेवंजा, बाँस
मेड़ रोपण	सागौन, गम्हार
गृह वाटिका	अमरूद, नींबू, अनार, सहजन

फल वृक्षों के लिए 1 मी^{3} तथा अन्य वृक्षों के लिए 60X60X60 सेमी के गड्ढ़े वर्षा पूर्व खोदने चाहिए। प्रत्येक गड्ढ़े में रोपण पूर्व गोबर की सड़ी खाद 25—30 किग्रा. मिलायी जानी चाहिय। रोपण उपरान्त पौधे को तुरन्त पानी देना चाहिए। पौध सुरक्षा एवं सधाई की व्यवस्था करनी चाहिय। प्रथम वर्षाकाल में 20—25 दिन के अन्तराल पर कम से कम दो बार निराई—गुड़ाई करनी चाहिये इससे खरपतवार नष्ट होते हैं और थाले में वायु संचरण अच्छा होने से जड़ का विकास अच्छा होता है। सजीव बाड़ के लिए पौधों को कम दूरी पर (1—2 मी.), जोत सीमा रोपण में बड़े आकार वाले पौधों को 10—12 मी., मध्यम आकार के पौधों को 5—6 मी. तथा झाड़ीदार वृक्षों को 2.5—3.0 मी. की दूरी पर लगाते हैं। मेड़ रोपण में पौधों के बीच 8—10 मी. की दूरी पर्याप्त होती है। तेज बढ़वार वाले पौधे जैसे यूकेलिप्टस, बाँस को 2.0 मी. की दूरी पर लगाना ठीक रहता है। कृषि वन के अन्तर्गत पौधों को आयताकार विधि से लगाते हैं। आँवला, बेल, सागौन को 12X6 मी. की दूरी पर लगाना उचित है। वृक्ष की कतार पूर्व—पश्चिम रखने से इसका फसल पर दुष्प्रभाव कम पड़ता है। कृषि उद्यानिकी के अन्तर्गत भी आयताकार रोपण उचित होता है। वन चरागाह में रोपण वर्गाकार सधाई विधि से करनी चाहिए। पौधों को दूसरे वर्ष से सीधा बढ़ने के लिए सहारा देते हैं और तीसरे वर्ष से छाया प्रतिबंधित करने के लिए पौधे की गहन छँटाई करनी चाहिए। फल वृक्षों को मनवांछित आकार देने के लिए दूसरे वर्ष से ही सधाई शुरू कर दी जाती है और छँटाई प्रजाति की आवश्यकतानुसार की जाती है। जैसे बेर के पौधे को मई—जून में गहरी छँटाई करते हैं परन्तु आँवला, बेल की छटाई नहीं करते हैं। पौधों के लिए प्रत्येक वर्ष थाला बनाना चाहिए। थाले का आकार पेड़ की उम्र के साथ बड़ा होता जाता है। यदि सिंचाई उपलब्ध है तो पौधों को रासायनिक खाद बढ़वार शुरू करते समय और वर्षा ऋतु में थाले में देना चाहिए। बड़े पौधों को नाली विधि से खाद देना उचित रहता है जबकि छोटे पौधों को थाले में खाद—पानी देना चाहिए। प्रजाति के अनुसार फल वृक्ष 3—4 वर्ष की आयु से उत्पादन देना शुरू करते हैं। औद्योगिक वृक्षों जैसे बाँस की कटाई चौथे वर्ष से शुरू करते हैं, यूकेलिप्टस, सुबबूल आदि को 7—10 वर्षों में काटते हैं जबकि सागौन, शीशम, गम्हार आदि वृक्षों को 25 वर्ष उपरान्त ही काटना चाहिए।

निष्कर्ष : भूमि एवं जल संसाधन का क्षरण जिस गति से हो रहा है उससे लगता है कि आने वाली पीढ़ियों को खेती लायक उर्वर भूमि उपलब्ध नहीं होगी। यह हमारी पीढ़ी की जिम्मेदारी है कि जैसी उर्वर एवं संरक्षित संसाधन हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं, हम वही संसाधन विरासत में अपनी पीढ़ी को दें सकें। इसके लिए कृषिवानिकी अपनाना ही एक विकल्प है, तभी भूमि, जल एवं जैव विविधता संरक्षित एवं भविष्य में उपयोगी होगी।

सफलता की सामग्री में शिक्षा मुख्य तत्व हैं।

*****

शिक्षा से ज्यादा मूल्यवान कोई चीज नही होता है इसे केवल परिश्रम के द्वारा ही पाया जा सकता हैं।

*****

शिक्षा को हर जगह सम्मान मिलता हैं।

*****

शिक्षा के द्वारा ही एक बेहतर सामाज की रचना की जा सकती हैं.

*****

शिक्षा का उद्देश्य केवल और केवल मानव कल्याण होना चाहिए.

Swachh Bharat Abhiyan

स्वच्छ भारत

एक कदम स्वच्छता की ओर

MORE CROP PER DROP™

150 YEARS OF CELEBRATING THE MAHATMA

रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय
RANI LAKSHMI BAI CENTRALAGRICULTURAL UNIVERSITY
2014
कृषि सर्व जीवनस्य आधारम्

रानी लक्ष्मी बाई केन्द्रीय कृषि विश्वविद्यालय
झाँसी-284 003 (उ.प्र.) भारत

सत्यमेव जयते

PMKSY
Pradhan Mantri
Krishi Sinchai Yojana

Classic Enterprises
Complete Printing Solution Under One Roof
Ph. 7007122381, 9415113108

PMKSY
PMKSY-DL